सिद्धयोग

...पक संपादक
...श्वर अनन्तश्री
...हंसजी महाराज

अप्रैल १९९०

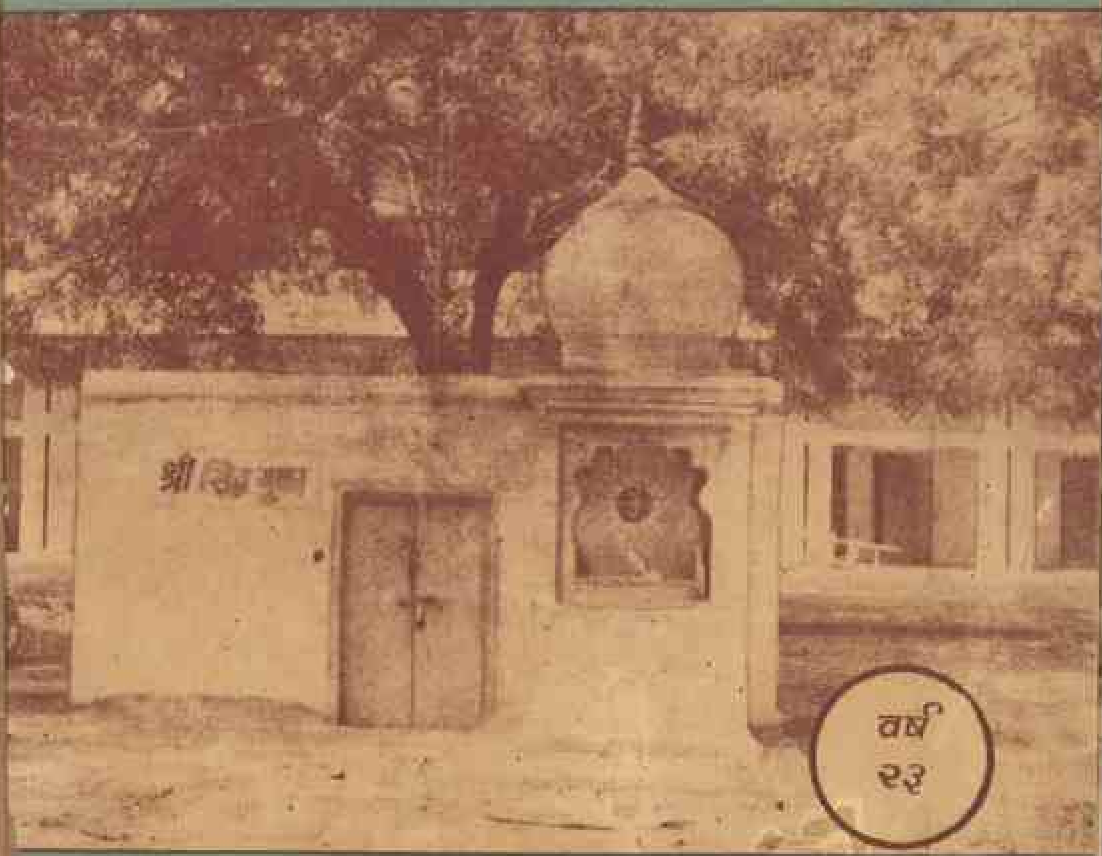

वर्ष
२३

अंक

सिद्धगुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
सवांई
आगरा

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

अप्रैल
१९९०

इस अंक में पढ़िये—

★ धारणसंयुक्तं स धर्मः (प्रार्थना) १
★ निष्काम कर्म २
—योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज
★ कर्म की अनिवार्यता ५
—आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा
★ अहिंसा और समता भाव ९
—डा० श्री रमेशचन्द्र मिश्र
★ योग-दर्शन में कर्मतत्त्व मीमांसा २१
—ब्रह्मचारी श्री दासलाल
★ श्रीमद्भगवद्गीता एवं कर्मयोग २६
—श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री
★ गुरुमन्त्र का सहारा ले ३२
—श्री विष्णुप्रसाद व्या
★ प्रेय से श्रेय की उपलब्धि ४१
—डा० श्री विजयसिंह
★ यौगिक षट्कर्म ४८
—श्री चन्द्रहास वर्मा
★ कर्म का उद्भव और स्वरूप ५९
—ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश
★ पत्रं,पुष्पं-फलं-तोयम् ६६
★ जपस्व सोऽहं पुनरेव सोऽहम् ६८
पं० द्वारिकाप्रसाद शर्मा, लखनऊ
★ योग का अर्थ ७०
—वैद्य रामधन शर्मा, शास्त्री
★ अग्नि-पुत्र (कविता) ७३
—श्री देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'
★ कर्म-प्रकरण ७४
—श्री स्वामी हरिहरानन्द आरण्य
★ जिन पाया तिन रोय ७८
—श्री जगदीश मिश्र
★ कर्म-मीमांसा ८१
—डा० बदरीनारायण पंचोली
★ कर्म एवं कर्म बन्धन ८७
—श्रीमती सरिता भारद्वाज एम.ए. आचार्य

वार्षिक मूल्य ४० रुपया। इस अंक का ५ रुपया।

विश्व विख्यात सिद्धयोगी

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

संचालक श्री सिद्ध गुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सवाई, आगरा

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २३
अङ्क १

अप्रैल
१९९०

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

धारणसंयुक्तं स धर्मः

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्मः स्यादशंकितः॥

—महाभारतम्

अर्थात्

स्वास्थ्य, शरीर, इन्द्रिय, मन, कुटुम्ब, समाज, ग्राम, नगर, जनपद, राष्ट्र और विश्व धारण करने का साधन होने से सत्य, अहिंसा, न्यायादि आचरण धर्म कहलाता है। धर्म मनुष्यों को धारण करता है। अर्थात् जिस प्रकार अन्न, जल, वायु अग्नि आदि पदार्थ जीवन के आधार हैं, उसी प्रकार सत्य, प्रेम, न्याय, आदि का व्यवहार सबको सुखी और प्रसन्न रखने में सहायक होने से मनुष्यों का आधार माना जाता है। अतः जो धारणात्मक आचरण और कार्य हैं, वे निःसन्देह धर्म हैं। इसी धर्म के आचरण से प्राणीमात्र में शान्ति रहती है और सब लोग निर्भय और निरापद रूप से धरती पर विचरण करने में समर्थ होते हैं। अतएव सत्य और न्याय के आचरण का पर्याय ही धर्माचरण है।

विशेष लेख :-

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

गहना कर्मणो गतिः

'बड़ी गहन गति होती है कर्म की।' इस गहन गति को जान लिया जिसने उसने छुटकारा पा लिया भव-बन्धन से। श्रद्धेय गुरुदेवजी इसी मर्मको सप्रमाण समझाने का प्रयास कर रहे हैं अपने इस लेख में।

निष्काम-भाव से कर्मयोग की प्रवृत्ति बना लेना ही भव-बन्धन से छूटने का एकमात्र उपाय है। यही सार है गुरुवर के इस लेख का जिसे 'सद्योग' के पाठकोंको हृदय ङ्गम करना है। सं० सम्पादक

निष्काम कर्म

मनुष्य के जीवन में कर्म-बन्धन एक ऐसा बन्धन है जिसके कारण वह जन्म और मरण के चक्कर में अनन्त काल तक पड़ा रहता है। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है—

अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृतं कर्म शुभाशुभम्।

मनुष्य के जीवन में जितने शुभ और अशुभ कर्म होते हैं उनका फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। आज वे जिन कर्मों का फल भोग रहे हैं, और यह कर्मफल भोगते हुए जिन-जिन प्राणियों का मेल-मिलाप उससे होता है, यह प्रक्रिया और भी नये-नये कर्मजाल को पैदा कर देती है। यही कारण होता है कि मनुष्य को फल-भोग के लिए यहाँ बार-बार जन्म लेना पड़ता है तथा यही एक विशेष कारण रहता है कि मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से नहीं निकल पाता। किसी के प्रति भी अच्छा या बुरा किसी भी प्रकार का संस्कार जो बनता है, कालान्तर में वही संस्कार कर्म का रूप धारण कर जन्म का दाता बन जाया करता है और जन्म लेने के बाद फिर जिन प्राणियों के बीच में जन्म लिया है उनका प्रीति प्यार, राग-द्वेष आदि कर्म समूह को पैदा करके उसके फलस्वरूप बार-बार जन्म लेता और बार-बार मरता रहता है। इससे छुटकारा पाने के लिए वेद भगवान का उपदेश है :—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेत् शतं समाः एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

अर्थात्—मनुष्य को सौ वर्ष के जीवन के अन्दर कर्म करते हुए जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार से कर्मरत रहने पर मनुष्य कर्म-जाल से ऊपर उठ जायेगा। और कर्म फल-भोग के लिए उससे लिप्यमान नहीं होगा।

प्रकारान्तर से यही बात अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने निष्काम कर्मयोग के रूप में कह डाली है। यदि अखिलात्मा के ही इस उपदेश को मनुष्य अपने जीवन में धारण कर ले तो वह अवश्य ही कर्म-बन्धन से परे हो जावेगा। अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान ने उसे कर्म करने की बार-बार आज्ञा प्रदान की है। भगवान का कथन है—

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।

अर्थात्—हे अर्जुन तू कर्म कर जैसा कि पहले ऋषि-मुनियों ने भी किया है। किन्तु इस पर ध्यान रख कि—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्तेकर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात ।।
कर्मण्यो ह्यपि बोद्धव्यम् बोद्धव्यम् च विकर्मणः।
अकर्मश्च बोद्धव्यम् गहना कर्मणो गतिः ।।
कर्मण्यकर्म -: पश्येदकर्माणि च कर्मण्यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु सयुक्तः कृत्स्नकर्म कृत् ।।

अर्थात्—कर्म क्या है ? और अकर्म क्या है इस बात का निष्कर्ष निकालने के लिए बड़े-बड़े विद्वान् भी संशयग्रस्त होकर मोहित होगो हैं। इसलिए हे अर्जुन मैं तुझे वह कर्म तत्त्व बतलाता हूँ जिसको जान करके तू सब प्रकार के पापों से छूट जायेगा। तू भली प्रकार से मन लगाकर कर्म को समझ ले। क्योंकि कर्म की गति बहुत गहन है। सहज हो जानी नहीं जा सकती। वह मनुष्य बुद्धिमान है जो कर्म के अन्दर अकर्म को देखे और अकर्म के अन्दर कर्म को देखे। जो व्यक्ति इस कर्म सिद्धान्त को समझ लेता है उसके सब कर्म शुभ से शुभतर हो जाते हैं। सब प्रकार की सफलता उसके सामने आने लगती है। कर्म और अकर्म के इस सिद्धान्त को समझ लेना ही बहुत बड़ी बुद्धिमानी की बात है। यह समझ ही तुझे जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा दिला पायेगी।

अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण का यह उपदेश गीता के तीसरे अध्याय में आया है। दूसरे अध्यायके अन्त में भी भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया है :

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।

अर्थात्—मनोगत सभी कामनाओं को छोड़ करके जो मनुष्य बिल्कुल इच्छा रहित होकर विचरता है एवं निरहंकार और निर्मम रहता है वह शाश्वत् शान्ति को पा जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुखसे इस प्रकार के वचन सुनकर अर्जुन के मन में शङ्का पैदा हो गई क्योंकि अर्जुन उनके पवित्र भावों को नहीं समझ सका था, इसलिए शंकास्पद होकर के उसने स्पष्ट कह डाला—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकंवद निश्चित्येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।।

अर्थात्—हे अखिलात्मा यदि आप अकर्म को ठीक समझते हैं तो फिर मुझे घोर कर्म में क्यों डालते हो। इस प्रकार से आप मिले-जुले सिद्धान्तों को बतलाकर मेरी बुद्धि को भ्रमित-सी कर रहे हैं। इसलिए निश्चय करके यथार्थतः सिद्धान्त की बात कहो। जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो सकूं। अर्जुन का यह मनोभाव समझकर भगवान ने उसे उत्तर दिया—

हे अर्जुन! इस संसार में दो प्रकार से इस सिद्धान्त को पहले समझाया गया है। सांख्य शास्त्र का अनुगमन करने वाले लोगों को ज्ञान योग के द्वारा तथा योगियों को कर्मयोग के द्वारा संसार में कैसा भी मनुष्य क्यों न हो वह कर्म को आरम्भ किये बिना ही निष्कामता को प्राप्त नहीं कर सकता। और जो लोग कर्म-मीमांसा को न समझ करके कर्म संन्यास कर बैठते है वे लोग सिद्धि को नही पा सकते। क्योंकि ऐसा हो ही नहीं सकता कि कोई भी मनुष्य जन्म लेकर एक क्षण भी कर्म किये बिना शान्त भाव से बैठा रहे। प्रकृति स्वयं ही उनसे कर्म करवा लेती है। इसके अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त को न समझ करके कोई व्यक्ति यदि कर्मेन्द्रियों का संयमन करके इन्द्रियों के विषय का चिन्तन करता रहता

है तो वह भी मिथ्याचारी अर्थात्—दम्भी कहा जाता है। और जो व्यक्ति कर्मेन्द्रियों पर मन से नियन्त्रण करके आसक्ति रहित होकर के कर्म करता है वह श्रेय की ओर बढ़ जाता है। इसलिए हे अर्जुन तु शङ्का छोड़कर के बिल्कुल निश्चिन्त मन से कर्म कर। क्योंकि कर्म के द्वारा ही निष्कर्मता को मनुष्य प्राप्त होता है।

भगवान ने अर्जुन को एक तात्विकी बात यह बतलाई कि—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि,च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु सः युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

अर्थात्—जो मनुष्य कर्म के अन्दर अकर्म को देखता है और अकर्म के अन्दर कर्म को देखता है, वही यथार्थता को जानता है वही बुद्धिमान तथा योगी होता है। कर्म के अन्दर अकर्म को देखने का अर्थ है मनुष्य नेकी करे और कुयें में उसे डाल दे अर्थात् दान, पुण्य, तप और स्वाध्याय आदि उत्कृष्ट कर्म करे परन्तु इनके फल की इच्छा बिल्कुल न करे। इसी का अर्थ है कर्म के अन्दर अकर्म को देखना। कर्म करते हुए कर्म फल की इच्छा न करना ही अकर्मता है।

दूसरा विषय है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना अर्थात्—जो मनुष्य कृतकृत्य हो चुका है जिसकी सब वृत्तियों का पूर्ण रूपेण शमन हो चुका है उसे कुछ भी करना अवशेष नहीं है। उसका संसार में कोई भी कर्तव्य शेष नहीं वह कोई कर्म करे या न करे यह उसकी अपनी इच्छा है। योग-दर्शन का सिद्धान्त है कि सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा में जिसको ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकट हो जाती है उस पर कोई भी कर्म-लेप लागू नहीं होता। सूत्र है :—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी।
योग द० १/५०

अर्थात्—ऋतम्भरा प्रज्ञा के आ जाने के बाद केवल मात्र उसके ही संस्कार अवशेष रहते हैं। अन्य सभी संस्कार वहाँ रुक जाया करते है। इसलिए जो व्यक्ति सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा को पहुंच जाता है उसकी गति ऐसी हो जाती है कि वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। किन्तु ऐसी स्थिति आ जाने के बाद क्या मनुष्य को सभी कर्म-कलापों का त्याग कर देना चाहिये? नहीं यह उचित नहीं, उसको पूर्णता प्राप्त होने पर भी लोक-व्यवहार हेतु कर्म करना ही चाहिए। क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जन.।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकास्तदनुवर्तते ॥

अर्थात्—महान पुरुष जैसा-जैसा कर्म करते हैं लोक में इतर लोग वैसा-वैसा ही अनुकरण करते है। भगवान श्रीकृष्ण ने इस विषय में स्वयं अपने आपको उदाहरण रूप से रक्खा, और कहा :—

अर्थात्—हे अर्जुन! तीन लोक में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो किन्तु फिर भी मैं कर्म करता हूँ और बड़ी लगन के साथ करता हूँ क्योंकि सभी मनुष्य मेरा अनुसरण करते हैं। यदि मैं कर्म करना छोड़ दूँ तो प्रजा के नाश करने का कारण बन जाऊँगा। इसलिए कर्मबन्धन से मुक्त हो जाने के बाद भी लोकाभिनय को सामने रखते हुए मनुष्य को कर्मरत रहना चाहिये। इसीका नाम है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना। मनुष्य अपने जीवन में कृतकृत्यता को पाकर भी अपने आपको कर्मरत रक्खे, यही कल्याण का मूल साधन है और सभी लोग इस सिद्धान्त को अपना कर्म करते हुए निष्कर्मता को पा जाया करते हैं। ऐसी निष्कामता को ही निष्काम कर्मयोग कहा गया है जो मनुष्य को मोक्ष का मार्ग बनाकर भव-चक्र से छुटकारा दिला देती है।

कर्म की अनिवार्यता

● आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

[प्रस्तुत लेख के लेखक आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा सिद्धयोग-पाठकों के सुपरिचित लेखकों में से हैं। प्रायः प्रत्येक अंक में आप निरन्तर योग-सिद्धान्तों और योगांगों पर अपने सार्थक विचार प्रकट करते रहते हैं। यह लेख भी जिसे इस विशेषांक के लिए "कर्म की अनिवार्यता" शीर्षक से आपने लिखा है पाठकों को नया दिशाबोध प्रदान करेगा, ऐसा हमारा मत है।
—स० सं०]

कर्म द्वारा सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। चाहे लौकिक कार्यों की सफलता हो, चाहे पारमार्थिक सफलता—आत्म-दर्शन, तत्व-बोध या परम शान्ति की उपलब्धि हो, बिना कर्म-परायण हुए कुछ नहीं हो सकता। धनोपार्जन के लिए व्यक्ति न दिन देखता है न रात देखता है। भूख-प्यास, मान-अपमान सब कुछ सहता हुआ किसी कर्म में लगा रहता है तो एक दिन सम्पन्न बन जाता है। साधना के क्षेत्र में भी इसी प्रकार कर्म का ही महत्व है। जब परमात्मा में कृपा रूपी कर्म का प्रवाह होता है तो साधक में शक्तिपात रूपी कर्म उद्भूत होकर चेतिशक्ति का उन्मेषरूपी कर्म सचरित होता है। समस्त जगत् चक्र-कर्म की धुरी पर चल रहा है। परब्रह्म के स्पन्दनसे समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। उनके निःश्वास से ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद निर्गत हुए हैं। जिस प्रकार बीजसे अंकुर फिर पादप शाखा-प्रशाखाएँ, फूल-फल आदि नानात्व का प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार उस महनीय परमात्म शक्ति से समस्त ब्रह्माण्ड का उद्भव हुआ है। इसमें प्रकृति के सत-रज-तम तीनों गुण कर्म-चक्र का प्रवर्तन करते रहते हैं। गुणातीत अवस्था प्राप्त किये बिना हमें इसी कर्म-प्रवाह में अनवरत भ्रमण करते रहना पड़ता है।

कर्म के प्रवाह के चार सामान्य सहयोगी हैं—काल, स्वभाव, गुण और देश। पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट और नीत्शे जैसे मनीषी इसे Time, place, purpose and force को कर्म का प्रणेता मानते हैं। कर्म का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य रहता है। निष्काम कर्म या योग-दर्शन निर्दिष्ट योगी के पुण्य-पाप रहित निर्मल कर्म भी लोक-यात्रा या लोक-शिक्षण के लिए होते हैं। यह दूसरी बात है कि उनके कर्म सामान्यजनों की भाँति उन्हें पुण्य-पाप के कर्मफल से नहीं बाँधते। क्योंकि वे कर्म के रहस्य को समझकर आसक्ति रहित होकर इस प्रकार कर्म करते हैं कि कर्म तो होते हैं, किन्तु उनका फल उत्पन्न नहीं होता। जैसे कोई किसान धान से छिलका उतार कर बोये तो क्या वह उग सकेगा? अथवा दाने भून कर बोये तो उससे अंकुर नहीं फूटेगा? इसी प्रकार जिनका अहंकार विगलित हो गया है, वे योगी उसी प्रकार कर्म करते हैं जैसे हम स्वप्न में इन्द्रियों के बिना नाना प्रकार के कर्म करते हैं, किन्तु जागने पर उसका फल प्राप्त नहीं होता। स्वप्न में प्राप्त धन क्या किसी की गरीबी दूर कर पाता है? स्वप्न में किसी की हत्या करने पर कोई अभियोग कहाँ बनता है?। इसी प्रकार योगारूढ़ साधक जगत में स्वप्नवत् इन्द्रिय, मन और अहङ्कार रहित होकर केवल बुद्धि के स्तर पर व्यवहार करने के कारण प्रपंच के सुख-दुःख से अभिभूत नहीं होते। जगदात्मा श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—"ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।"

अर्थात् ज्ञान की अग्नि समस्त कर्म-समूह को जलाकर राख कर देती है। यह ज्ञान आत्म-निष्ठा या आत्म-तृप्त अवस्था है। इस अवस्था में अधिष्ठित योगी समतावस्था को प्राप्त हो जाता है। वह केवल कर्मरत रहता है, उसके अन्दर फलाकांक्षा नहीं रहती। इच्छा अपूर्ण और अतृप्त में हुआ करती है। भूखे व्यक्ति में भोजन की इच्छा होती है। पूर्ण तृप्त होने पर स्वादिष्ट पदार्थों से भी मन हट जाता है। किसी-किसी को तो स्वादिष्ट पदार्थ अधिक मात्रा में कष्टदायी भी बन जाते हैं। वह खाकर वमन कर देता है। वमन किये हुए स्वादिष्ट पदार्थ ही घृणा का भाव उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार वैराग्य युक्त मन वाले साधक को प्रवृत्ति प्रधान कर्म वमन भक्षण की तरह घृणास्पद लगने लगते हैं।

जिसके जीवन में वैराग्य रचपच जाता है वह निःसंग तथा निर्विकार अवस्था प्राप्त कर पाता है। योग-दर्शन की भाषा में जब विवेक ज्ञान वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा के प्रकाश के रूप में पर-वैराग्य फलने-फूलने लगता है तो समतावस्था आती है। पक्षपात रहित शुद्धावस्था, गुणातीत अवस्था। तभी योग की यह परिभाषा "समत्व योग उच्यते" (गीता २/४८) संगति होती है। चित्त की समतावस्था, जिसमें हर्ष-विषाद, सिद्धि-असिद्धि तथा हानि-लाभ गर्भ का अभाव हो जाता है। समत्वापन्न योगी ईश्वरार्पण-बुद्धि से प्रारब्ध का क्षय करने के लिए कर्म करते हैं। पूर्णता प्राप्त कर वे सृष्टि-चक्रके नियमों का सञ्चालन करने के लिए अकर्ता बनकर कर्म करते रहते हैं। कर्म का कर्त्ता ही उसके फल का भोक्ता होता है। जब योगी गुरु-प्रदत्त साधना के निवृत्ति-प्रधान कर्मोंके द्वारा अपने कर्म-चक्र को उलट देता है तो वह कर्म के मूल स्रोत पर पहुँचकर कर्म से विश्राम पा जाता है। सन्त योगी तुलसी ने इस स्थिति को संक्षेप में कह दिया—"कर्म कि होंहि स्वरूपहि चीन्हे।" आत्म-दर्शन के पश्चात् अन्दर और बाहर सर्वत्र आत्म-सत्ता परिपूर्ण हो जाती है, फिर अवकाश और प्रयोजन के बिना कर्म कहाँ है।

कर्म जीवन और जगत का परम सत्य है। कोई भी प्राणी बिना कर्म किये रह नहीं सकता। यदि बाह्य कर्मेन्द्रियों को बलपूर्वक रोककर कोई निष्क्रिय होकर बैठना चाहे तो तो बैठ नहीं सकेगा। मन से वह कर्म करता ही रहेगा। यदि मन से भी कर्म करना बन्द कर ले तो बुद्धि से साक्षीभाव का कर्म चलता रहेगा इस प्रकार कोई व्यक्ति बिना कर्म किये रह नहीं सकता। बिना कर्म के वह संसार की कोई कामना पूरी नहीं कर सकता। कर्म की निवृत्ति ज्ञान से भी नहीं होगी। उस अवस्था में कर्माशय में पड़े हुए अविद्या के बीज और जन्मजन्मान्तर का कर्म संस्कार-प्रवाह उससे कर्म-भोगक्षय करायेगा। उस अवस्था को जीव-मुक्त अवस्था कहा जाता है। ज्ञानी जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त करके भी प्रकृति के सन्तुलन की रक्षा के लिए प्रकृति को कर्म करने देता है। यद्यपि उसके ये कर्म इस प्रकार के होते हैं जैसे सोते-सोते हम कभी-कभी शरीर खुजला लेते हैं किन्तु हमें इसका अनुभव नहीं हो पाता। ज्ञानी पुरुष के कर्मों का संचय नहीं होता। अतएव उनका कर्माशय पुष्ट नहीं होता। ईश्वर समर्पण करने की कला जानकर जो ईश्वराधन रूपी शुभकर्मों के द्वारा अपने सतोगुण को बढ़ा लेता है वह अशुभ कर्मों का शुभ कर्मों से क्षय करके अन्त में शुभ और अशुभ कर्मों को

त्यागकर मुक्त हो जाता है। ऐसे कार्य कोई-कोई चतुर साधक ही कर पाते हैं। अपने काम बना लेने वाला व्यक्ति ही चतुर कहा जाता है। किन्तु जगदात्मा योगेश्वर श्रीकृष्ण ने उसे कुशल कहा है जो काँटे से काँटा निकालना जानता हो। जो पैर का काँटा दूसरे काँटे से निकालकर अन्त में दोनों काँटे फेंककर निश्चिन्त होने की कला जानता हो। भगवान ने कर्म की ऐसी कुशलता को ही योग कहा है—

'योगः कर्मसु कौशलम् ।' गीता–२/५०

वस्तुतः कर्म की कुशलता बिना गुरुदेव की कृपा के समझ में नहीं आती। मूढ़ और ज्ञानी के कर्म एक से है खाना-पीना, रहना-सहना और बोलना-चालना आदि। किन्तु मूढ़ उन्हीं कर्मों से अशान्त और दुःखी होकर बन्धन में पड़ता चला जाता है किन्तु ज्ञानी सब कुछ करते हुए भी जल में खिले कमल के पत्ते की तरह संसार के सुख-दुःख और उसके परिणामजन्य जन्म-मरण से निर्लिप्त रहते हैं। यह कर्म की कुशलता ही है। मूढ़ देह-बुद्धि के कारण करता और भोक्ता के अहंकार के वशीभूत होकर कर्म करने से बन्धन स्वीकार करता है। क्योंकि समस्त प्रकार के कर्म शरीर और मन द्वारा ही सम्पादित होते हैं। चंचलता की अवस्था में सम्पादित कर्म प्राण शक्ति को नष्ट करते हैं तथा दुःखदायी परिणाम देते है। जबकि एकाग्र बुद्धि-मन और प्राण से किये गये कर्म सुख-सन्तोष और आनन्द के जनक होते हैं।

योग ही ऐसा कौशल है जिसमे मन और प्राण एकमुखी तथा एकाग्र होते हैं। मन के एकाग्र अर्थात् आत्ममुखी होने पर पापपुण्यात्मक कर्म क्षीण होने लगते हैं। चित्त की निरोधावस्था के कर्म सम्पादन की कला ही कर्म की वास्तविक कुशलता है। चित्तनिरोधावस्था के कर्म हैं—अष्टाङ्ग योग-यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान और समाधि। अन्य कर्मों में ही मन एकाग्र होता है किन्तु वह एकाग्रता भंग हो जाती है। जैसे कोई चित्रकार चित्र बनाते समय एकाग्र मन होता है। सिलाई-कढ़ाई या अन्याय क्रियायें करते समय भी मन एकाग्र हो जाता है किन्तु इस अवस्था को योग नहीं कहा जा सकता न ये सब गोरख-धन्धा करने वाले योगी कहला सकते हैं। वैसे अधिकांश विद्वान तात्विक विश्लेषण न करने के कारण किसी भी कार्य की कुशलता को ही योग कह देते हैं तो क्या शिकार करना और जेब काटना भी योग होगा। क्योंकि उन कार्यों में कुशलता और एकाग्रता आवश्यक है। पर ऐसा नहीं है। उपर्युक्त कर्म अपना फल भय-चिन्ता, सुख-दुःख आदि का कर्माशय पैदा करते हैं। कुशलतापूर्वक किये गये कर्म तो ऐसे होते हैं जिनसे कर्मफल का जन्म नहीं होता। काजल की कोठरी में रहने पर भी बेदाग रहना ही तो कर्म की कुशलता है। यह कुशलता कर्मफल को ईश्वरार्पण बुद्धि प्राप्त किये बिना नहीं आ सकती। ईश्वर प्रणिधान समाधि की आनन्दानुगत अवस्था में आ पाता है। समाधि से उठने के बाद भी योगी में समाधि के आनन्द का नशा-सा छाया रहता है जिससे उसमें देहबुद्धि का उदय नहीं हो पाता। उस नशे में किये गये कर्मों का मालिक वह नहीं होता, बल्कि जिस ध्येय इष्ट में उसकी समाधि है वह सर्वसमर्थ सर्व व्यापक ही उन कर्मों अध्यक्ष होता है।

जब समाधिस्थ योगी कर्मोंका कर्त्ता नहीं रहता तो वह भोक्ता कैसे हो सकता है। हम व्यवहार में भी यही देखते हैं। शराब के नशे में धुत हुआ कोई व्यक्ति कुछ जुर्म कर दे या विकृत मन वाला कोई पागल कोई अपराध

कर दे तो उन्हें अपराध की गम्भीरता के अनुपात से कम दण्ड मिलता है या बिल्कुल ही दण्ड नहीं मिलता। योगी का चित्त भी उसी प्रकार ब्रह्म ध्यान में पूर्णरूपेण स्थित हो जाता है। उस समय उसका मन चिति शक्ति के स्पंदन से एकाग्र और अच्युत बन जाता है। मन फिर ब्रह्म नाड़ी में होकर महाप्राण के साथ एकाकार हो जाता है। ध्यान की प्रगाढ़ अवस्था में जब योगी इतना सहज और स्वाभाविक स्थित प्रज्ञ हो जाता है कि नाना प्रकार के कर्मों में संलग्न होते हुए भी चित्त कर्मों से अलग रहता है और अपनी आनन्दावस्था को नहीं छोड़ता। आत्मभाव से विचलित नहीं हो पाता। इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधर स्वामी कहते हैं—'यतः कर्मसु यत् कौशलं —बन्धकानामपि तेषामीश्वराराधनेन मोक्षपरत्व सम्पादक चातुर्यं स एव योगः।'' अर्थात् कर्म बन्धन का कारण होते हुए भी ईश्वराराधन रूपी सत्कर्मों द्वारा कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त करने की चतुरता ही योग है।

गीता में बुद्धियुक्त होकर कर्म करने को ही कर्म का कौशल माना गया है। देखिये—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं
त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः
पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
—गीता २/५१

जब तक देहात्मबुद्धि है तब तक फलाकांक्षा रहित कर्म करना सम्भव नहीं है। देह में आत्मबुद्धि केवल मनीषी अर्थात् आत्मा के मननशील ज्ञानी ही छोड़कर फलाकांक्षा रहित होकर कर्म कर सकते हैं। मन जब आत्मा में जुड़ जाता है तो मन के विक्षेप और तज्जन्य सब अनर्थ उत्पन्न होने पाते। चित्त ब्रह्मानन्द की अपूर्व प्रसन्नता से भर जाता है। उस समय जागतिक क्लेशों का स्मरण नहीं होता। ईश्वराभिमुख हो कर्म करते-करते जब तक वासनाक्षय एवं मनोनाश न हो तब तक नियमपूर्वक कर्म करते रहना पड़ता है। राम-कृष्ण परमहंस का कहना है कि जिनके पास सोने का लोटा है उन्हें रोज-रोज उसे मांजने की जरूरत नहीं पड़ती। किन्तु जिनका पात्र पीतल का है उन्हें तो प्रतिदिन उसे साफ करते रहना पड़ेगा तभी वह शुद्ध रह पायेगा, स्वर्णपात्र को भी तो कभी-कभी अग्नि में तप्त करना पड़ेगा तभी मलरहित रह पायेगा। योगेश्वर श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय के अनुसार प्राणों की सहज क्रिया ही फलाकांक्षा रहित कर्म है। श्वास के साथ मन को लगा देने पर मन और प्राणों का एक लक्ष्य में लय हो जाने पर विष्णु का उपद्रव रहित विष्णुपद प्राप्त होता है। ''पदं यत् परमं विष्णोः मनो यत्र प्रसीदति'' फलाकांक्षा रहित कर्म तब बन पाता है जब साधक में देखने और सुनने से भी वैराग्य हो जाता है। जब तक देखने और सुनने की प्रवृत्ति दूर नहीं होती शुद्ध-बुद्धि का उदय कैसे हो सकता है। चिरकाल तक साधना करने पर देह में जो आत्मा की बुद्धि बनी हुई है वह नष्ट हो जायगी। बुद्धि में वासना का होना ही मल है। जब तक बुद्धि में वासना का मल भरा हुआ है तब तक सम्यक् दर्शन और सम्यक् श्रवण कैसे सम्भव है? यह दो चार घण्टे प्रतिदिन साधना करने मात्र से इतनी जल्दी दूर नहीं होगी। लम्बे समय तक लगातार श्रद्धापूर्वक उत्साह और धैर्य के साथ की गई साधना अपना असर लाती है। शास्त्रकारों तथा अनुभवी योगियों का मत है। (शेष पृष्ठ १४ पर)

कर्मयोग की भूमिका में :

अहिंसा और समता भाव

● डॉ० श्री रमेशचन्द्र मिश्र

हिंसा वृत्ति का विरोध और अहिंसा भाव का पोषण भारतीय जीवन-दृष्टि में अत्यन्त प्राचीन काल से समर्थित और पुष्ट होता रहा है। इसीलिए 'अहिंसा' को परम धर्म, परम तप और परम सत्य तक कहा गया है।[१] 'धर्म' के लक्षण के रूपमें 'अहिंसा' को प्रथम स्थान मनीषियों ने सम्भवतः इसी लिए दिया है कि लोकाचरण में क्रूरवृत्ति अथवा दुष्टता का आचरण विधा तक माना गया है। इसीलिए अहिंसावृत्ति अपनी चेतना में 'परममित्र' रूप में मानी जाती है। अपनी आत्म-चेतना के समान ही दूसरे की आत्मा को मानना समताभाव का निष्कर्ष माना गया है।[२] इसीलिए योग-चिन्तन में 'समत्वं योगमुच्यते' को विचार और व्यवहार की भूमिका माना गया है। यहाँ पहले 'अहिंसा' शब्दके मूल और मर्म को समझते हुए अहिंसा भाव के सामाजिक दायित्व को समझना आवश्यक है अन्यथा इस आत्म पुरुषार्थ भाव को कमजोरी या पलायन का ढाल ही माना जाता रहेगा। देखना यह है कि क्या यह वृत्ति कमजोरों की रक्षा करती है अथवा शक्तिशाली पुरुषार्थी-आत्मवान लोगों के स्वास्थ्य का संवर्द्धन करती है।

'हिंसा' शब्द 'हिंस' धातु टाप् प्रत्यय से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है हत्या, हानि, क्लेश-ताप पहुँचना आदि। हिंसा वृत्ति के प्रतिरोधक भाव के रूप में अहिंसा भाव को प्रतिष्ठित किया गया है। धर्माचरण (=मानव सदाचरण परिपालन) में स्व-भाव की प्रति-हन्ता अथवा प्रतिरोधक वृत्तियों-काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, मत्सर आदि को दमित-शमित करने के लिए उनसे प्रबलतम एवं पोषक भावों की प्रतिष्ठा धर्मांगों के रूप में हुई है, तभी तो 'अहिंसा' को नकारात्म भाव न मानकर स्वभाव सम्बन्धी मूल भाव के

१. अहिंसा परमोधर्मः तथा अहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतोधर्मः प्रवर्तते ॥ —महाभारत अनु० ११५/२३

२. अहिंसा लक्षणो धर्म इति धर्मविदो विदुः।
यदहिंसात्मकं कर्म तत् कुर्यादात्मवान् नरः।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥ —महाभारत, अनु० ११६/१२, २६
न घातयति नो हन्ति घ्नन्तं नैवानुमोदते।
सर्वभूतेषु सस्नेहो यथाऽऽत्मनि तथापरे ॥ —महाभारत, अनु० १४४/५७

३. अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यम् दमस्तथा।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम् ॥ —महाभारत, अनु० २२/१६

अन्तर्गत मानते हुए धर्म परिपालक प्रमुख लक्षणों में स्थान मिला।२ भारतीय धर्मशास्त्रों में 'अहिंसा' के प्रतिरोधी अथवा विलोमी शब्द 'अहिंसा' का इतना प्रचार और प्रतिष्ठा मिली कि व्यक्ति के दैनिक नियमाचरणों में एक आवश्यक अंग के रूप में 'अहिंसा' वृत्ति की भाव-चेतना को समाहित कर लिया गया। सात्त्विक साधनात्मक मार्ग पर अग्रसर होने के लिए यम-नियमादि योग-अनुशासन की प्रथम सीढ़ी के रूप में भूमिका बनाई गई है। 'यम' (=संयम) के अनुशासन के बिना इस मार्ग पर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ाया जा सकता और उस एक कदम में साधक को पहला स्वभाव अहिंसामूलक बनाने का निर्देश है, क्योंकि अहिंसा भाव की प्रतिष्ठा के बिना वैर भाव का उन्मूलन सम्भव नहीं है और वैर-वृत्तिके रहते कोई धर्माचरण सफल नहीं हो सकता। इसीलिए योग पुरुष पतंजलि महाराज ने 'अहिंसा' को यम-नियमादि के प्रथम अंगके रूपमें स्वीकृति दी है।१

अहिंसा भाव नपुंसक भाव नहीं है। यह हिंस्र मन पर लगाम लगाकर उसकी शक्तियों को संचित सम्वर्द्धित और सही दिशा में संचालित करता है। चेतना के विकास की दृष्टि से यह शब्द पशुता पर मनुष्यता की विजय के रूप में जीवन-व्यवहार में प्रचलित हुआ है। अहिंसा भाव के विकास के रूप में जंगल-राज पर मानवीय विवेक-संयम अनुशासन और समता भावके रूपमें स्वीकृति मिली है। इसीलिए अहिंसा भाव का पूरा परिवेश मानवीय धर्म-चेतना की असीम सम्भावनाओं को अपने में समाहित किये हुए है। यही कारण है कि सभी धर्म-समुदायों ने अहिंसा के साथ दया,२ सभी प्राणियों में आत्मभाव,३ पर दुःख कातरता और समता भाव का अपने-अपने शास्त्रों में समादरपूर्वक स्थान दिया है। अहिंसा-दया भाव से युक्त मनुष्य की चेतना से भय और वैर भाव से शनैः-शनैः मुक्ति मिल जाती है।४ इसके विपरीत 'हिंसा' करने वाले अथवा हिंसक-वृत्ति को धारण किये हुए क्रूर कर्मियों को अधःपतन की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ बताते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य दूसरों के प्राण हरने के लिए हाथ में डण्डा लेकर सदा भयङ्कर रूप धारण किये रहता है, जो प्रतिदिन हथियार उठाकर प्राणियों की हत्या में निरत रहता है, जिसके भीतर किसी के प्रति दया नहीं होती, जो सभी प्राणियों को उद्वेग में डाले रहता है, जो क्रूर होने के

---

१. अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
अहिंसा प्रतिष्ठायां, तत्सन्निधौ वैर त्यागः ॥　—योग० साधन० २/३०, ३५

२. अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम्।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः ॥　—महा० अनु० १४१/२५

३. न हि प्राणात् प्रियतरं लोके किञ्चन विद्यते।
तस्माद् दयां नरः कुर्याद् यथाऽऽत्मनि तथापरे ॥　—महा० अनु० ११६/८

४. न भयं विद्यते जातु नरस्येह दयावतः।　—वही, ११६/११
अवैरा ये त्वनायासा, मैत्रीचित्तरताः सदा।　—वही, १४४/३६
आतुराः सर्वभूतानि दयावाननुपश्यति।
मैत्रचित्तः शिव शमी निर्वैरो नियतेन्द्रियः ॥　—वही, १४४/३७

कारण चींटी आदि पर भी दया नहीं करता, ऐसे मनुष्यों का घोर नरक में पड़ना निश्चित है।[१] जो नीच मनुष्य धन के लोभ में अथवा शत्रुता के कारण हथियार लेकर निहत्थे पुरुष को मार डालता है वह गधे जैसी नीच योनियों में जन्म लेता है।[२] जिस मनुष्य का आचरण क्रूरता से भरा हुआ है, जिससे समस्त जीवों को भय प्राप्त होता है, जो हाथ-पैर, रस्सी, डण्डे, ढेले से तथा खम्भों में बाँधकर घातक शस्त्रोंका प्रहार कर प्राणियों को सताता है। छल-कपट करते हुए हिंसा-वृत्ति से प्राणियों में उद्वेग पैदा करता है अथवा आक्रमण करता है, ऐसे मनुष्य को नरक में गिरना आवश्यक है।[३]

महाभारत कालीन हिंसा वर्जन एवं अहिंसा भाव पोषण सम्बन्धी उक्त नैतिक कथन के बाद के वैष्णव समुदायों, जैनागमों में तो अहिंसा का महत्व इतना अधिक प्रतिपादित हुआ है कि उन्होंने महाभारत कालीन "अहिंसा परमोधर्मस्तथा अहिंसा परं तपः" वाले दृष्टिकोण में "अहिंसा परमोधर्मः" को अपनी चर्या में प्रथम महत्वपूर्ण चर्या-ध्येय के साथ ही प्रस्तुत किया है। कथानकोंमें मिलता है कि चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर ने आषाढ़ी पूर्णिमा के पचासवें दिन अर्थात् भाद्रपद शुक्ल पंचमी को 'पर्युषण व्रत' किया था। पर्युषण शब्द का अर्थ है "समीप निवास।" यह शब्द वस् धातु से निष्पन्न हुआ है और 'उपनिषद्' शब्द के आशय के समीपवर्ती है। आज भी जैन मतावलम्बी इसी दिन पर्युषण पर्व के रूप में अहिंसा-दिवस मनाते और हिंसा त्याग का संकल्प लेते हैं।

हिंसा और अहिंसा सम्बन्धी सन्तोंके भाव विचारों को जानने से पहले एक-दो जिज्ञासा और शब्द प्रयोगों में अंकुरित कुछ आशंकाओं पर विचार कर लेना अपेक्षित है। क्या हिंसा और हत्या पर्यायवाची शब्द हैं? क्या युद्ध में मारना और सामान्य जीवन में क्रूरता से वध करना एक ही मानसिकता के फलित पक्ष हैं? क्या अपराधी को दण्ड देना या हत्यारे को दण्डित करना पाप-कर्म है? क्या हिंसक व्यक्ति समाज समतावादी हो सकता है? आदि आदि। जहाँ तक इन पंक्तियों के लेखक का चिन्तन-पक्ष है और जितने शास्त्र-प्रमाण तथा आजका हिंसा-अहिंसा सम्बन्धी विचार-पक्ष मिलता है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि हत्या, युद्ध, युद्ध-हत्या और हिंसा-वृत्ति में स्थूल और सूक्ष्म का अन्तर है। सभी एक जैसी मानसिकता के परिणाम नहीं है। "हिंसा और हत्या" में मानसिकता और

१. महाभारत अनुशासन पर्व। अध्याय १४४/४८-५१

२. महाभारत अनुशासन पर्व। अध्याय १११/११२

३. यस्तु रौद्र समाचारः सर्वसत्व भयङ्करः।
हस्ताभ्यां यदि वा पद्भ्यां रज्जवाण्डेन वा पुनः॥
लोष्टैस्तम्भरायुधैर्वा जन्तून बाधति शोभने।
हिंसार्थं निकृतिप्रज्ञा प्रोद्वेजयति चैव ह॥
उपक्रामित जन्तूंश्च उद्वेगजननः सदा।
एवं शील समाचारो निरयं प्रतिपद्यते॥
हिंसाविहारस्तु नरः कृमिकीटेषु जायते। —वही, वही, अध्याय १४५/३२-३४

उसके परिणाम का स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। हत्या में जहाँ जीवन का हरण निश्चित है, वहीं हिंसा एक क्लेश वृत्ति है, जो मन, वाणी और कर्म इन तीनों ही माध्यमों से सम्भव है।१ हाँ, हिंसा का क्रूर-तम या कठोरतम परिणाम हत्या या हत्याएँ हो सकती है। हिंसा वृत्ति का क्रूर दबाव पहले अन्तर्मन पर पड़ता है, जो हमारे भाव विचारों और अध्यवसायों को प्रभावित और प्रेरित करता है। हत्या से पहले हिंसा का निर्मम घटना-क्रम मनुष्य की चेतनामें चलता है, जिसका परिणाम घटना विशेष में देखने को मिलता है। पहले हम मन में ही हिंसा या हत्या करते हैं, सृष्टि या विनाश करते हैं। बाहर तो उसकी भौतिक निष्पत्तियाँ ही होती हैं जो स्थूल रूप में दिखाई देती हैं। आज अपराधों की मूल वृत्ति को जानने अथवा अपराधी की मानसिकता को समझने के लिए स्थूल घटनाओं के पीछे भी सूक्ष्म मानसिकता समझने की बड़ी आवश्यकता हो गई है। क्योंकि अपराध वृत्ति से छुटकारा पाने या दिलाने के लिए अपराधी की वृत्ति या मान-सिकता में परिवर्तन या रूपान्तरण आवश्यक है, जो पूर्व मानसिकता में विचार क्रान्ति के द्वारा ही सम्भव है। विचारों की ऐसी क्रांति ही कठोर वृत्तियों का परित्याग कराके सूक्ष्म एवं कोमल वृत्तियों का संचार करा सकती है। ऐसी वृत्तियों के माध्यम से ही सब प्राणियों के अस्तित्व का महत्व हमारी चेतना में उदित होता है, जिससे बाहरी परिवेश में भी बदलाव सम्भव है—

प्रभुके बनाये जेते जीव हैं जहाँ के तहाँ,
खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देहु।

अहिंसा को परमधर्म मानने वाला व्यक्ति यदि युद्ध-सैनिक है, तब उसका क्या दायित्व होता है? क्या वह अपने प्रतिपक्षी को शत्रु माने या न माने? इस सम्बन्ध में महाभारत के रचनाकार व्यास का विचार-साध्य है कि अहिंसा परमधर्म है, ऐसी जिनकी मान्यता है और जो "यथाऽऽत्मनि तथा परे" में विश्वास रखते हैं, वे भी यदि राजा के सेवक है अर्थात् उनसे भरण-पोषण की सुविधा एवं भोजन पाते हैं तो ऐसी दशा में अपनी शक्ति के अनु-रूप संग्राम में जूझना उनके लिए आवश्यक है। यहाँ भृत्यवृत्ति और अहिंसा भाव धारण में विरोध नहीं बताया गया।२ इसी प्रकार अपराधी को दण्ड देने-दिलाने में परम वैष्णव सन्त कबीर भी संकोच करते दिखाई नहीं देते। वे कहते है कि उसके मारने में कोई खेद नहीं होना चाहिए, जिसके मरनेसे लोगों को सुख मिलता हो। ऐसे दण्ड-फल को कोई बुरा नहीं मानता।३ अपराध के विरोध में ऐसा पक्ष समर्थन हिंसावृद्धि का पोषण न होकर बहुजन हित में अहिंसा भाव का ही

१. मन करि दोष न कीजिये, वचन न लावै कर्म।
घात न करिये देह सौं, इहै अहिंसा धर्म॥ —सु०ग्र०, ज्ञान०, तृतीय दो० ६

२. अहिंसा परमोधर्म इति येऽपि नरा विदुः।
सयामेण न युध्यन्ते भृत्याश्चैवाद्रुत्पतः॥
नरकं यान्ति ते घोरं भर्तृ पिण्डापहारिणः। —महा०, अनु० अध्याय १४/५

३. कबीर सोई मारिये, जिहि मूऐ सुख होइ।
भलो-भलो सबको कहै, बुरो न माने कोई॥ —क०ग्रं० परि० सा० १६४

संवर्द्धन कहा जायगा। अतः हिंसावृत्ति पर अहिंसा भाव का दबाव अथवा विजय व्यक्ति की अन्तर्यात्रा का क्रान्तिकारी मोड़ या चेतना का सही दिशा में रूपान्तरण है। इस प्रकार के रूपान्तरण के पश्चात् व्यक्ति की मानसिकता में वैसा ही परिवर्तन होता है, जैसे ऋतु परिवर्तन में बसन्त के आगमन पर वृक्षों वनस्पतियों को पुराना कलेवर बदल कर नया स्वरूप मिल जाता है। ऐसे ही अहिंसा भाव की विजय के पश्चात् आत्म-स्वभाव में क्रान्तिकारी परिवर्तन होता है। ऐसा करते हुए मनुष्य अपने स्वरूप-स्वभाव के और अधिक निकट आता है। उसके बाद जब वह उसी स्वभावमें जीने लगता है, तभी 'वसुधा' उसका परिवार बन जाती है। स्वभाव-परिवर्तन की ऐसी घटना, बाह्य जीवन की घटनाओं से कम महत्वकी नहीं होती, अपितु अधिक विश्वनीय अधिक महत्व की होती है। मानसिकता के वैसे परिवर्तनमें मनुष्य-मनुष्य के प्रति होने वाले भेद-भाव का प्रायः तिरोभाव हो जाता है। यहाँ तक कि चेतना प्राणी मात्र में आत्म-सम्बन्ध जोड़ने लगती है। हिंसा वृत्ति जैसे ही अहिंसा भाव से स्थानापन्न होती या होने लगती है वैसे ही समता भाव या समदृष्टि का विकास होना स्वाभाविक है। ऐसे रूपान्तरण में संयम का बहुत बड़ा हाथ रहता है अर्थात् अहिंसा भाव भी प्रतिष्ठा में संयम, समता भाव, क्रिया-पक्ष के रूप में सामने आता है। पुनः आशङ्का हो उठती है कि क्या अहिंसा भाव कोई पक्ष विशेष है जो स्थिति विशेष में ही कार्यशील होता है अथवा हिंसा के विरोध या विलोम के रूप में जाना जा सकता है? वास्तव में हिंसा तो पूर्व पक्ष है ही, जो व्यक्ति की अखंड चेतना को विभाजित करके प्रस्तुत करता है, क्योंकि हिंसावृत्ति के बलवती होने पर ही व्यक्ति की चेतना 'स्व और पर' में विभक्त हो जाती है। फलतः हमारा स्वराज्य खंडित होकर अथवा खण्ड-खण्ड में आबद्ध होकर अनेकानेक सम्बन्धों में बंधकर सामने आता है तब विभेदकता और विषमता का होना स्वाभाविक हो जाता है, क्योंकि उन सम्बन्धों के कारण ही अहंकार वृत्ति एवं स्वार्थपरता का होना तथा मोहासक्त के कारण सङ्कीर्ण बने रहना स्वाभाविक ज्ञात पड़ता है। तब अहिंसा भाव का विस्तार एवं समताभाव की व्याप्ति सम्भव नहीं है। तभी तो विचारक-साधक जाने-अनजाने योग-भूमिका की शरण में आकर जिस महाराग का जीवन चुनता है, उसमें कहीं कोई वैरभाव को स्थान नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि हिंसा वृत्ति पर अनुशासन किये बिना संयमी-साधना परायण जीवन सम्भव नहीं है। कारण यह है कि जब चेतना विखण्डित या विभाजित रहती है अथवा हिंसावृत्ति के आधिपत्य के रहते जीवन में सात्विकता की सत्ता बनाये रखना सम्भव नहीं है।

सात्विक भाव की स्थिति 'स्व' में स्थित रहने पर ही सम्भव होती है। 'स्वप' से दूर रहते हुए स्व-प्राण अथवा अखण्ड चेतना से जुड़ पाना कठिन है। वैसी मानसिकता में हम प्राणीमात्र से, अलगाव का सम्बन्ध रखेंगे जो स्थितियों के परिणामों से अर्थात् सुख-दुःख, लाभ-हानि, आशा-निराशादि से जुड़ा रहता है। पर जितने हम अपने से, स्व से जुड़े रहते हैं, स्वराज्य में जीते हैं, उतने ही हम प्राणीमात्र के निकट होते हैं। यह जीना उच्छृङ्खल जीना नहीं है, अपितु 'स्व' अर्थात् आन्तरिक अनुशासन में जीना है। गुणात्मक

(शेष पृष्ठ ९३ पर पढ़िए)

(पृष्ठ ८ का शेष)— कर्म की अनिवार्यता

एवं निरन्तरं कृत्वा
ब्रह्मैवास्मीति भावना ।
हरत्यविद्या विक्षेपान्
रोगानिव रसायनम् ॥
—योगवाशिष्ठ

मन की जन्मजन्मान्तर की वासना को नष्ट करने के लिए मन में उसकी विरोधी ब्रह्मवासना जागृत करनी होगी। अर्थात् नित्य स्वरूप का स्मरण करना होगा। जिस प्रकार रसायन के सेवन से रोग समूल नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार अन्तर्मुखी अजपा-जप की रसायन से अविद्या के विक्षेप समूल नष्ट हो जाते हैं।

जब कर्म करना ही है तो क्यों न चतुरता से कर्म किया जाय। चित्तशुद्धि के लिए अन्तर्मुखी होकर की गई योग-क्रियाएं जीवन का रूपान्तरण कर बन्धन मुक्त कर देती हैं। इसके विपरीत इन्द्रियों की तृप्ति के लिए मनमुखी होकर विषय सेवन रूप की गई क्रियायें बन्धन का कारण बन जाती हैं। कुशलता से किये जाने वाले कर्मों के साथ कुछ शर्तें लगी हुई हैं। पहली शर्त है कि उन्हें कर्त्तव्य समझकर करना ही चाहिए। एक बार स्वीकार कर लेने के बाद अपनी सुविधा या सुख का कोई प्रश्न ही कहाँ उठता है? जैसाकि हम अपने आराध्य गुरुदेव के जीवन में देखते हैं। आनन्दकन्द प्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने उन्हें योग-प्रचार कर्म की आज्ञा दी थी। आँधी-वर्षा, सर्दी-गर्मी, दिन-रात यहाँ तक कि अपने स्वास्थ्य की चिन्ता किये बिना रेलगाड़ी की द्वितीय श्रेणी में सामान्य व्यक्ति की तरह अहर्निश भाग-दौड़ करते रहते हैं। जन-कल्याण को उन्होंने अपना कर्त्तव्य मानकर पूर्ण स्थिति प्राप्त होने पर भी योग-प्रचार कार्य को करने का व्रत ले रखा है। योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र ने भी यही कहा है कि यद्यपि त्रिलोक में कुछ भी ऐसा नहीं, जो मुझे प्राप्तव्य न हो तथापि लोक शिक्षा के लिए मैं निरन्तर इसलिए कर्म-परायण हूँ कि लोग बड़ों की कार्य-शैली का अनुकरण करते हैं। यदि मैं परिपूर्ण होने के कारण कर्म करना छोड़ दूँ तो साधारण बुद्धि के लोग मेरी आत्म-काम स्थिति को न समझ कर मेरे अकर्म का अनुकरण कर अनुचित मार्ग पर चल पड़ेंगे और आलसी बनकर नष्ट हो जायेंगे।

कर्म में कुशलता की दूसरी शर्त है—नित्य और नियमित ढंग से कर्म करना। आहार-विहार, शयन-भोजन सभी विषयों में योगी कठोर नियमों का पालन करते हुए चलता है। साधक के जीवन के सारे कर्म उपासना ही होते हैं। हर व्यक्ति ईश्वर की भक्ति करना चाहता है, किन्तु कुशलतापूर्वक कर्म किये बिना जब तक देहाभिमान दूर नहीं होता, तब तक कोरे ज्ञान से न इस लोक में सुख मिल पाता है और न जन्मान्तर सुधर पाता है। मौखिक या बाह्य क्रियाओं पर टिकी हुई भक्ति अधिक समय तक नहीं ठहरती। जहाँ उसके अहङ्कार को चोट पहुँची, वह भक्त की जगह राक्षस बनने में उसे देर नहीं लगती। जब तक अहङ्कार नहीं मिटता, तब तक देहाभिमानशून्यता नहीं आती और आत्म-दर्शन भी नहीं होता। आत्मदर्शन होने पर सारे कर्म भगवत्सेवा बन जाते हैं। गीता के अनुसार 'आत्मवन्तम् न कर्माणि-निबध्नन्ति धनञ्जय।'— आत्मदर्शन प्राप्त योगी के द्वारा किये गये कर्म-बन्धन के कारण नहीं हो

पाते। क्योंकि उस अवस्था में उसके सारे कर्म स्वार्थ के स्थान पर परार्थ और 'सर्वभूतहितेरताः' की कोटि में आ जाते हैं ऐसे कर्म यज्ञ शब्द से अभिहित हैं। मीमांसा दर्शन में यज्ञ-विधान को सर्वोपरिकर्म माना गया है। वस्तुतः आत्मज्ञान की प्राप्ति का जो उपाय भूत प्राण का अपान में और अपान का प्राण में मेलन कर्म है वह प्राणकर्म ही महाप्राण सर्वव्यापक की प्रीति का कर्म है। यही वास्तविक भक्ति है। हमारे यज्ञों में जपयज्ञ श्रेष्ठतम् कर्म माना गया है। जपयज्ञों में अजपाजप यज्ञ सर्वोत्तम कर्म है। यह अजपा ही हमारी आयु है। श्रुति का वचन है। 'हविर्वै आयुः।' अर्थात् प्राण की आहुति ही हमारी आयु का परिमाण है। हम सभी को अजपाजप संख्या या आयु स्व-स्व कर्मानुसार ही प्राप्त होती है। अजपाजप द्वारा प्राणशक्ति ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होकर देहात्मबोध दूरकर विदेहमुक्ति प्रदान करती है।

कर्म में कुशलता की तीसरी शर्त है फला, कांक्षा का न होना। यह शर्त अत्यन्त कठिन है। बिना फल की इच्छा के कोई कर्म क्यों करना चाहेगा। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने धनुर्धर अर्जुन को युद्धरूप कर्म में प्रवृत्त करने के लिये उसे फल का लालच देकर ही तो प्रवृत्त किया। उन्होंने कहा कि 'उठो पार्थ ! गाण्डीव सम्भालो और सम्मुख उपस्थित प्रतिपक्षियों पर प्रहार करो। यदि लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हो गये तो स्वर्ग प्राप्त करोगे। यदि जीत गये तो राज्य का भोग करोगे।' इस प्रकार कामना की सन्तुष्टि को ध्यान में रखकर ही व्यक्ति की कर्म में प्रवृत्ति होती है। यदि ऐसा है तो निष्काम कर्म का उपदेश कैसे सार्थक होगा ? कर्म के मूल में वासना, कामना, इच्छा, शुभेच्छा या फलाकांक्षा विद्यमान रहती है। चाहे स्थूलरूप में हो या सूक्ष्म रूप में विद्यमान हो। इस प्रकार के प्रश्न बड़े-बड़े विचारकों के मन में उठा करते है। जगदात्मा श्रीकृष्ण ने गीता में इन शंकाओं का निराकरण कर दिया है। सत्रहवें अध्याय में गुणत्रय विभाग योग के विवेचन में यज्ञ को सात्विक, राजसिक एवं तामसिक तीन प्रकार का कहा है। फल-कामना से किया गया यज्ञ राजसिक है। अफलाकांक्षायुक्त विधिपूर्वक कर्तव्य भावना से किया गया यज्ञ सात्विक होता है। (गीता १७/११) सतोगुण की वृद्धि हुए बिना फल की कामना के बिना कर्म करना सम्भव नहीं है। कर्तव्यभावना से किये गये कर्म फलाकांक्षा रहित हो जाते हैं। प्राण कर्म निष्काम सहज कर्म की कोटि कर्म है। हम श्वास-प्रश्वा लेते और छोड़ते समय किसी फलकी इच्छा किये बिना ही स्वाभाविक रीति से स्वतः यह क्रिया करते रहते हैं। वास्तव में अजपाजप ही फलाकांक्षा रहित कर्म है। अजपा के साथ जुड़ने वाले कर्म निष्काम कर्म बन जाते हैं। मन जब इड़ा और पिंगला में रहता है तो शुभ और अशुभ कर्म बनते है। मन जब सुषुम्ना में स्थित ब्रह्मनाड़ी में लगा रहता है तो उस अवस्थामें मन का देहके साथ सम्बन्ध छूट जाता है और फलस्वरूप देह से जुड़े हुए पुण्य-पाप कर्म भी छूट जाते हैं। उस अवस्था में किये गये कर्म फलाकांक्षा रहित हो जाते हैं। जब यह भाव दृढ़ हो जाय कि सब कुछ उस परमेश्वर से ओतप्रोत है तो फिर किसके लिए किसकी इच्छा करना ? जब तक द्वैत बुद्धि और भेद बुद्धि है तभी तक कामना और और फल की चाह से कर्म होते है। अद्वैत और कैवल्य भाव की स्थिति स्थिर हो जाने पर फलाकांक्षा रहित कर्म सम्भव है। तप,

दान, यज्ञ और इसी प्रकार अन्य क्रियायें भी फलाकांक्षा रहित स्थिति में सम्पन्न करने पर मोक्ष की जनक बनती हैं। इसीलिए भगवान ने आदेश दिया--

कर्मण्येवाधिकारस्ते,
मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा-
ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।
(गीता २/४७)

फलाकांक्षा रहित कर्म के अलावा अन्य शर्त है, कर्म में कुशलता की अर्थात् श्रद्धायुक्त भाव से कर्म करना, निर्लिप्त भाव से कर्म करना तथा संग रहित होकर अकर्त्ता भाव से कर्म करना। जगदात्मा योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस संदर्भ में स्वयं अपना उदाहरण प्रस्तुत किया है--

न मां कर्माणि लिम्पन्ति,
न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति,
कर्मभिर्न स बध्यते॥
(गीता ४/१४)

अर्थात् मैं निरहंकार हूँ, इसलिए कर्म-समूह मुझको आसक्त नहीं कर सकते, कर्मफल में मेरी स्पृहा भी नहीं है। इस प्रकार जानकर जो मेरा ध्यान करता है, उसमें भी निस्पृहता और निर्लेपता स्वतः आ जाती है। सच ही है--'आत्मकामस्य का स्पृहा?' जो आत्मकाम है तथा सर्वत्र जिनकी आत्म-दृष्टि है वहाँ आत्मा से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं तो स्पृहा किसकी होगी? जो कर्म का कर्त्ता नहीं है, उसकी कर्मफल में आसक्ति भी संभव नहीं है। साधना करते-करते साधक क्रिया की परावस्था प्राप्त कर स्वयं आत्मा हो जाता है। आत्मा में स्पृहा कैसी? कर्मका अवसान अकर्म में होता है। जब कर्म ही नहीं रहता तो कर्म-बन्धन कैसा और किसको? भगवान ही सब जीवों के आत्मा हैं। जब वह सारे संसार के कार्य को चलाते हुए भी निर्लिप्त रह सकते हैं तो उनकी धारणा और ध्यान कर उनका अंश यह जीव निर्लिप्त हो जाय तो उसमें आश्चर्य क्या? कर्मफल में आबद्ध होने वाला मन है। क्रिया की परावस्था में मन शमन हो जाता है। मन वहाँ रहता ही नहीं तो कर्मफल से आवद्ध कैसे होगा? "मैं भी वही निर्लिप्त, मुक्त तथा शुद्ध एवं परिपूर्ण आत्मा हूँ।" यह भाव दृढ़ होने पर आत्मा का स्व-भाव समझ में आता है। स्वप्न में देखे हुए पदार्थों के प्रति जिस प्रकार अपना अभिमान करने की जैसे इच्छा नहीं होती। उसी प्रकार संसार का स्वप्न भंग हो जाने पर कर्तव्य-भोक्तृत्व भाव भी नहीं रहते। इसी भावसे पूर्व समयमें भी अनेकों मुमुक्षुओं ने कर्म करते हुए निष्कर्म स्थिति प्राप्त की है। जनक, याज्ञवल्क्य आदि योगियों ने अहंकार रहित होकर प्राचीन काल में सत्व-शुद्धि के लिए कर्म करते हुए परम स्थिति प्राप्त की की थी। निर्लिप्त स्थिति में रहकर कर्म करना बड़ा कठिन कार्य है। निर्लिप्तता की स्थिति प्राप्त करने के लिए योगेश्वर श्रीकृष्ण एक सूत्र देते हैं--

योगयुक्तो विशुद्धात्मा,
विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्म भूतात्मा;
कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
(गीता ५/७)

जो साधक योगयुक्त हो शुद्धान्तःकरण से अपनी इन्द्रियों को जीतकर परोपकार परायण होकर कर्म करता है वह सब कुछ करता हुआ भी अकर्त्ता बना रहता है। प्राण कर्म ही ऐसा कर्म है जिसके करने से चित्त में संकल्प की तरंग नहीं उठती। प्राणी और मन को एक कर देने पर चित्त निरुद्ध हो जाता है। तभी निर्मल मन होने पर 'निर्मल मन जन सो मोहि-पावा' की सगति होती है। साधक निर्मल मन से ही आत्म-साक्षात्कार करता है। मन के वश में हो जाने पर इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में आसक्त नहीं होती। फिर शरीर की चेष्टायें स्वेच्छाचारपूर्ण कैसे हो सकती हैं ? सब भूतों में और सभी विषयों में सर्वत्र योगी चित् सत्ता से अतिरिक्त किसी अन्य का दर्शन ही नहीं करता तो फिर कर्म आसक्तियुक्त कैसे हो सकते हैं। समुद्र में सर्वत्र जल ही जल है तो नदी अपना अस्तित्व अलग बनाकर कोई चाह कैसे रख सकती है। प्राण क्रिया से जब प्राण और मन की एकता हो जाती है तो योगी में सर्वात्म दृष्टि खुल जाती है। उस अवस्था में आत्मा से भिन्न कोई विषय भासित नहीं होता। देखना, खाना-पीना, सूँघना, स्पर्श-करना, सोना-जागना, त्याग और ग्रहण सब इन्द्रियों के अपने-अपने कर्म हैं। इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त हैं। आत्मा-साक्षीभाव से यह खेल देखता रहता है। सिद्धावस्था में कर्म ब्रह्मार्पण हो जाने पर सब कुछ आत्मा में ही आभासित होता है। उस समय केवल प्रारब्ध का क्षय करने वाले कर्म हो पाते हैं। उन कर्मों से दग्ध बीजांकुर न्यास से कोई नये संस्कार नहीं बन पाते। जैसे सोते समय श्वास-प्रश्वास अपने आप चला करते हैं। मन को उसका भान नहीं होता। भूख लगने पर भोजन कर लेते हैं किन्तु भोजन के परिपाक का हमें पता नहीं चल पाता क्योंकि उस क्रिया में हमारे मन का संयोग नहीं होता। इसी प्रकार कर्त्तत्वाभिमान के बिना जीवन की सारी क्रियायें चल सकती हैं। अभिमान के द्वारा किये गये कर्म ही बन्धनकारक होते हैं। इन्द्रिय विषय संयोगजन्य ज्ञान खण्डित और असम्यक् ज्ञान होता है। असम्यक् ज्ञान मोह और भ्रम का जनक बनता है। सम्यक् ज्ञान से आत्मदृष्टि होती है। तब फिर प्रकृति के कर्म में आत्म-अभिमान नहीं होता। आत्मा से प्रकृति का जब पार्थक्य-लुप्त हो जाता है तो वस्तुत्व के ज्ञान के लुप्त हो जाने के साथ ही वस्तु भी लुप्त हो जाती है। उस समय प्रकृति आत्मा में सन्निविष्ट होकर निष्क्रिय हो जाती है। प्रकृति के आत्मा में मिलजाने पर 'अहं' भाव कहाँ रहेगा ? उस समय जो कर्म होता है वह अनिच्छाकी इच्छा से होता है। यही ब्रह्मार्पण कर्म की स्थिति है। समुद्र की तरंगें जैसे समुद्र के जल से पृथक अन्य नहीं होतीं उसी प्रकार केवली-ज्ञान होने पर सर्वत्र अखण्ड-एकरस आत्माके सिवाय किसी अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता।

मुनीम सेठजी की आज्ञा से पैसे का भुगतान करता रहता है। सेठजी के हानि-लाभ से उसे सुख-दुःख नहीं होता। इसी प्रकार योगीजन अपना सर्वस्व प्रभु के चरणों में समर्पित करके प्रभु के आदेश से लोक-कल्याण के लिए कर्म करते रहते हैं। प्रभु का आदेश कितना भी कठोर हो किन्तु योगियों को उसके पालन करने में तनिक भी क्लेश नहीं होता। वह जानता है कि प्रभु के लिये कार्य करने का अवसर पाना ही परम सौभाग्य की बात है। उस कार्य में उसे सुख होगा या दुःख

इसे सोचने की उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। हमारे आश्रम में अनेकों पुण्यात्मा गुरु भाई-बहिन सर्व-समर्थ श्री गुरुदेव का आदेश पाकर सुख-दुःख की परवाह किये बिना कर्म में जुटे रहते हैं। जो इस कसौटी पर खरे सिद्ध हो पाते हैं उनको योगसिद्धि शीघ्र होती देखी जाती है। परमकृपालु श्री गुरुदेव की योग-शिक्षण शैली कुछ इसी प्रकार की है। वे प्रत्येक साधक के संस्कार के अनुसार उसे कर्म का उपदेश कर देते हैं। किसी को कृषि कर्म, तो किसी को भोजन पाचक कर्म में किसी को आश्रम सेवा के कर्म में, तो किसी को अन्य सामान्य प्रकार के कर्म में। श्रीगुरुदेव का आदेश पालन करने के लिए जब साधक कर्म करने लगता है तो कर्म का नजरिया ही बदल जाता है। सारे शुभाशुभ कर्म श्रीगुरु-चरणों में अर्पित होने लगते हैं। साधक का कर्त्तव्याभिमान तथा देहाभिमान विगलित होते-होते एक दिन मन निर्मल हो जाता है और श्रीगुरुदेव की असीम कृपा के फलस्वरूप साधक समाधिद्वार पर अपने को खड़ा पाकर आनन्द से पुलकित हो अपने को भाग्यशाली समझता है। श्रीगुरुदेव की शिक्षणशैली पर सूक्ष्मता से विचार करने पर कर्म का रहस्य समझ में आने लगता है। वे श्रीमद्भगवद्-गीता के इस वाक्य को—

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'

प्रत्येक साधक के जीवन में चरितार्थ कराते हैं। इस वाक्य का सीधा सा अर्थ है कि सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते सुखमें दुःख में हरक्षण परमात्मा का अनुस्मरण करते हुए युद्ध करो। इस वाक्य में दो अर्थ—'अनु-स्मर तथा युध्य' बहुत गम्भीर अर्थ रखते हैं। अनुस्मर का अर्थ है पीछे-पीछे, साथ-साथ स्मरण करना। साथ-साथ का अर्थ है प्राणों की हर धड़कन, श्वास-प्रश्वास के साथ अजपा मन्त्र के रूप में प्रभु की याद करते हुए युद्ध करना। जीवन एक संग्राम ही तो है। सद्, असद् वृत्तियों, काम, क्रोध और लोभ की सेना का परस्पर युद्ध रूप कर्म सतत् चलता रहता है। जब सारे कर्म प्रभु स्मरण के साथ किये जायेंगे तो कर्म अनासक्त कर्म बन जायेंगे। कमल का पत्र जैसे जल में रहकर जल से पोषण पाते हुए भी जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार प्रभु चिंतन में लीन साधक को सभी कर्म लिप्त नहीं कर पाते। श्री सद्गुरु चरणों का चिंतन करते हुए कर्म करने की स्थिति में प्राण का प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी के अन्तर्गत ब्रह्माकाश में चलने लगता है, जिससे मन की चंचलता दूर हो जाती है। चंचल मन से किये गये कर्म ही बंधन के कारण होते हैं। स्थिर प्राण और मन से किये गये कर्म बन्धनकारक नहीं होते, क्योंकि एकाग्र स्थिति में सतोगुण की मात्रा बढ़ जाती है। सतोगुण के विकास से ज्ञानदीप्ति होने लगती है। उस अवस्था में साधक की मूर्छा, बेहोशी, अज्ञान और अभिमान नष्ट हो जाते हैं। ज्ञान की दशा में होशपूर्वक कर्म करने पर दुर्घटना की गुंजायश कम होती है।

मेरे परम करुणावरुणालय श्री सद्गुरुदेव स्वयं यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय रूप पावन कर्मों में अनुष्ठित रहकर साधकों को कर्म के रहस्य का उपदेश देते रहते हैं। एक बार उन्होंने अपने प्रवचनों में एत्मादपुर स्थान की एक घटना का उल्लेख किया था। जब श्री गुरुदेव 'श्री सिद्धगुफा' सवाई धाम में आकर योग-प्रचार कार्य करने लगे थे, उन्हीं दिनों एक संन्यासी सवाई के निकटवर्ती एत्मादपुर नामक स्थान पर आये हुए थे। उन्होंने श्री गुरुदेवजी से कहा कि महात्मन्! आप इतनी

उच्च स्थिति प्राप्त करने के बाद नेति, धौति आसन और प्राणायाम आदि सिखाने के चक्कर में क्यों पड़ गये ? । श्री गुरुदेवजी ने उन संन्यासीजी से पूछा—तो फिर संन्यासी जी महाराज ! मुझे क्या करना चाहिये ? संन्यासीजी ने उत्तर दिया—"अब कुछ करने की जरूरत नहीं है । बस, अजगर की तरह पड़े रहो।" श्री गुरुदेव ने संन्यासीजी को संकेत में कर्म के रहस्य का ज्ञान कराते हुए कहा—हे संन्यासीजी महाराज ! हम तो यही करना उचित समझते हैं ? यदि आप निर्विकल्पक स्थिति में पहुंच चुके है तो आप ऐसा कर सकते हैं । हम तो अपने गुरुदेव आनन्दकन्द श्री प्रभुजी का आदेश-पालन कर संस्काकारी आत्माओं के उद्धार के लिये यह सब कुछ करते रहेंगे जिसे न करने का आपने कहा है।" यह एक साधारण सी घटना है, किन्तु इसमें कर्म मीमांसा का तत्व-ज्ञान भरा हुआ है। गीता के उपदेश का सार-सर्वस्व श्री गुरुदेव के उत्तर में समाविष्ट है । श्री गुरुदेव के श्रीचरणों में एक दिन मैंने प्रार्थना की कि प्रत्येक वर्ष हमारी 'सिद्धयोग' पत्रिका का विशेषांक किसी एक विषय पर होना चाहिए । श्री गुरुदेव ने अपनी स्वीकृति देकर आदेश दिया कि लल्ला ! तुम इसकी रूपरेखा बनाकर इसको लेख लिखवा सको तो ऐसा करलो ।' उनके आदेश को शिरोधार्य कर जब इस विषय पर चिन्तन किया तो मुझे लगा कि मैं विचारों के जंगल में खो गया हूँ। कर्म का कहीं आर-पार ही नहीं है। 'गहना कर्मणो गतिः' 'ऊधो ! कर्मन की गति न्यारी ।' एक विचित्र उलझन अनुभव में आने लगी। विषय की रूपरेखा बनाकर विद्वान मनीषियों के लेखों को आमन्त्रित करने के लिए 'सिद्धयोग' में दे दी गई। मैं स्वयं लिखने लेखनी लेकर जब-जब बैठा, मुझे ऐसा लगने लगा कि एक के बाद एक पर्दा उठता जा रहा है और मैं एक ऊँची स्थिति में स्थित होकर सृष्टि का प्रवाह देख रहा हूँ। इस सबको अधिक समय सहन न कर सकने के कारण व्युत्थान अवस्था में आकर फिर कुछ सोचने का प्रयास करता। वृत्ति फिर कर्म संस्कारों में चली जाती और फिर वही दशा हो जाती। बड़ी मुश्किल से मेरी बुद्धि में यह रहस्य समझ में आया कि श्री गुरुदेवजी ने कर्म-मीमांसा विशेषांक की बात मेरे मुख से कहलवाकर मुझसे यह सब क्यों करवाया है। यह भी कर्म विपाक और कर्म अकर्म बताने का सरल तरीका है। योगी के कर्म साधनाभ्यास से अकर्मता को प्राप्त होते हैं। साधनाभ्यास भी एक प्रकार का कर्म है। इस कर्म के द्वारा चित्तवृत्ति आत्म-स्वरूप में विलीन रहती है। आत्मस्थ योगी जीवों के कल्याण के लिए दूसरों को आत्मान्वेषण कर्म में लगाने के लिए सामान्य पुरुषों की तरह ही कर्म करते हैं। किन्तु सामान्य पुरुषों के कर्मों से योगारूढ़ योगियों के कर्मों में एक विशेषता रहती है। साधारण लोग अनात्म-दृष्टि होने के कारण कर्त्तृत्वाभिमान से कर्म फल में बंधते हैं। जबकि योगारूढ़ आत्म-दृष्टि होने पर कर्तृत्व अभिमान के अभाव में कर्म-फल में आबद्ध नहीं होते। उनके कर्म अकर्म भाव को प्राप्त हो जाते हैं। जैसा कि भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में संकेत किया है—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य,
ज्ञानावस्थित चेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म,
समग्रं प्रविलीयते ॥
(गीता ४/२३)

अर्थात् आसक्ति रहित होकर धर्माधर्म के बंधन से मुक्त हुए आत्म-ज्ञानमें स्थित यज्ञरूप परमेश्वर की प्रीति के लिए किये गये सबके सब कर्म विनष्ट हो जाते हैं।

पुरुषार्थ चैतन्य का विकास है न कि कर्म का त्याग

● प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद

पुरुषार्थः चैतन्यविकासः न कर्मसंन्यासः ।

"एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन"—(कामायनी) उक्ति यथार्थ है । स्वतः जड़ पदार्थों में चेतना के विकास का प्रश्न ही नहीं उठता, पर जिनमें जीव है, उनमें से भी मनुष्य ही एक ऐसा अपवाद है, जिसे अपनी चेतना की भी चेतना होती है। यदि मनुष्य में तीव्र इच्छा और संकल्पशक्ति है तो वह अपनी चेतना का साधना के द्वारा आश्चर्यजनक सीमा तक विकास कर सकता है ।

प्रवृत्ति अर्थात् पुरुषार्थ इसलिए भी वरेण्य है कि चेतना के विकासके लिए कर्म-संकुल जीवन नितान्त अनिवार्य है। अवतारों में भी 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' अर्थात् कृष्ण स्वयं ही साक्षात् भगवान हैं. इसीलिए कहा जाता है कि उनकी जैसी विकसित चेतना का और कोई नहीं हुआ । पर उनके जितना कर्म-संकुल जीवन भी किसका रहा ? महाभारत और श्रीमद्भागवत पुराण से कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन का जो विराट् रूप उभरता है, उसे शब्दोंकी तूलिका से आँकना वेदव्यास जैसे ऋषितुल्य कवि के लिए भी सम्भव न हो सका। वाल्मीकि ने रामायण की रचना की, परन्तु व्यास कृष्णायण की रचना न कर सके। अतः यह मानना ही पड़ता है कि चेतनाके विकास का पुरुषार्थसे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। वाल्मीकि और व्यास जैसे मुनि और संन्यासी तो राम एवं कृष्ण जैसे पुरुषार्थियों का गुणगान एवं ध्यान कर अपने जीवन को कृतार्थ मानते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की वाणी भी महात्मा गांधी के पुरुषार्थ की वन्दना में अभिनन्दित हो उठी थी।

अन्य मार्गों में आरम्भ का नाश हो जाता है या कभी नतीजा उल्टा निकलता है या थोड़ी-सी साधना का कोई अर्थ नहीं होता। 'कर्मयोग' इन सभी बातों में अन्य सभी मार्गों से श्रेष्ठ है। 'इसमें आरम्भ का नाश नहीं होता, उल्टा नतीजा नहीं निकलता। इस धर्म का थोड़ा-सा पालन भी महाभय से बचा लेता है।' (गीता २/४०)

पुरुषार्थ मनुष्यके आत्मविकास का प्रतीक है और कर्मत्याग उसकी आत्महीनता का। आत्महीनता की भावना से आत्म-विस्तार या चेतना का विकास सम्भव नहीं है।

स्वार्थ का प्रतिलोम परमार्थ नहीं, बल्कि परार्थ है। स्वार्थ—अपने लिए, परार्थ—दूसरे के लिए, परमार्थ—व्यापक हित के लिए। जो अपने हित को छोड़कर दूसरे के हित की भावना को ग्रहण करने में असमर्थ है, वह व्यापक हित की साधना कैसे कर सकता है? क्रमिक विकास के इस मनोविज्ञान को ध्यानमें रखकर ही आश्रम की व्यवस्था में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के स्वाभाविक क्रम को स्वीकारा गया था। लेकिन पुरुषार्थ में केवल मोक्ष को और आश्रम में केवल सन्यास को स्वीकार करनेसे भारत की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था को और अन्ततः इसकी आध्यात्मिक साधना को जो गहरा धक्का लगा, वह वर्णनातीत है। विनोबा ने ठीक ही कहा है कि 'ईश्वरी-कृपाकी हवा की भाषा चकमा देने वाली है। ईश्वरी-कृपा 'हवा' के समान स्थिर है और हम अपने प्रयत्नों के द्वारा जो हवा उत्पन्न करें, बस वही 'हवा' है. कम से कम परमार्थ के आकाश की ऐसी ही स्थिति है।' वैसे मोक्ष पद पाने के लिए भी पुरुषार्थ की अनिवार्यता रहती है इसीलिए इसे परम पुरुषार्थ कहा गया है।

गुरु आवास कक्ष के सामने का दृश्य, जहाँ श्री गुरुदेवजी प्रातः सायं विराजमान रहते हैं।

आश्रम के ब्रह्मचारी गौ शाला में गौ की देखरेख करते हुए।

महाप्रभु की तपस्थली श्री सिद्धगुफा सवाई

यहाँ रजः प्रसाद पाने और योग-दीक्षा ग्रहण पाने के लिए प्रतिवर्ष देश-विदेश से अनगिनती योग-साधक आया करते हैं।

विशाल योग भवन का एक दृश्य।

आश्रम गौ शाला का एक और दृश्य।

योग-दर्शन में कर्मतत्व मीमांसा

● ब्रह्मचारी श्री रामलाल

कर्मतत्व एक ऐसा तत्व है, जिस पर सभी दर्शनकारों ने गहराई से विचार किया है। योग-दर्शन में कर्म का स्वरूप, कर्म-बंधन तथा इससे मुक्ति के क्या उपाय हैं ? इस पर विस्तृत विवेचन किया गया है । योग-सूत्रों पर भाष्य करते हुए भगवान पतंजलिदेव ने "कुशलाकुशलानि कर्माणि" कहकर कर्म का लक्षण बताया है अर्थात् जिसमें अच्छे-बुरे (पाप:पुण्य) का सम्बन्ध हो वह कर्म कहलाता है। कर्म चाहे अच्छे हों या बुरे, दोनों ही बन्धन के कारण हैं। मनुष्य अपने जन्म-जन्मान्तर के शुभाशुभ कर्म-संस्कारों के अनुसार प्रति क्षण कर्म करता रहता है। कर्म करते हुए राग-द्वेषजन्य शुभाशुभ चिंतन ही कर्मफल देता है। यदि मनुष्य राग-द्वेष रहित होकर ज्ञान व इन्द्रियों से कर्म करता है तो वह क्रिया मात्र होती है, उसका कोई फल नहीं मिलता है। यदि सभी कर्म-बन्धनकारी होने से दुःखरूप हैं, यह मानकर कर्म त्याग देना चाहिए जैसाकि मोक्षधर्म में लिखा है—

सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते,
सर्वाणि दुःखेषु तथोद्विजन्ति ।
तेषां भवोत्पादन जातखेदः,
कुर्यान्न कर्माणि द्विजातवेदः ।।

अर्थात् सब प्राणी सुख में सुखी तथा दुःख में दुःखी होते हैं। इसलिए संसार-चक्र में डालने वाले होने से कर्मों को भुक्त-भोगी न करे। किन्तु अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—

न हि कश्चित् क्षणमपि,
जातु तिष्ठत्य कर्मकृत ।

अर्थात् कोई भी प्राणी एक क्षण के लिए भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। इसलिए "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इस वेद-वाक्य के अनुसार मनुष्यको संसार में कर्म करते रहना चाहिए। महर्षि वशिष्ठजी ने बाह्याभ्यन्तर भेदसे कर्म दो प्रकार के बताये हैं। उन दोनों में से एक को करते रहना अत्यावश्यक है—

बाह्यान्तरश्चेति द्विविधं,
कर्म वैदिकम् ।
तयोरन्यतरत् कुर्यान्नित्यम्,
कर्म यथा विधिः ।।

बाह्यान्तर भेद से वैदिक कर्म दो प्रकार के हैं, उन दोनों से एक को यथाविधि करते रहना चाहिए। जिस व्यक्ति का साधना-मार्ग में प्रवेश नहीं है, उसे नित्य-नैमित्तिक आदि बाह्य कर्म करना चाहिए। जो योग-मार्ग पर आरूढ़ हो चुके हैं, उनके लिए आभ्यान्तर कर्म ही करने श्रेयस्कर हैं। इसी तथ्य को गीतामें भगवान ने स्पष्ट रूपसे समझाया है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं,
कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव,
शमः कारणमुच्यते ।।
(गीता ६/३)

अर्थात् जो साधक योग-मार्ग पर आरूढ़ हो रहा हो, उसे आसन, मुद्रायें तथा प्राणा-

यमादि कर्म करना चाहिए। जो योगारूढ़ हो चुका हो, उसके लिए आत्म-संयम ही आवश्यक है। जो व्यक्ति साधना रहित है, उसे नित्य-नैमित्तिक आदि बाह्य कर्म अवश्य ही करना चाहिए अन्यथा प्रत्यवाय दोष (पाप) लगता है। योगी तथा संन्यासी के लिए तो आत्म-चिंतन व ध्यानयोग का ही विधान है। विवेक ज्ञान होने पर कर्म-बन्धन योगी को स्वयं छोड़ देते हैं। जैसाकि कहा गया है—

ऋतुं प्राप्य यथा वृक्षः,
पत्रं त्यजति निस्पृहः।
तत्वं प्राप्य तथा योगी,
त्यजेत कर्म परिग्रहम्॥

अर्थात् जिस प्रकार ऋतु आने पर वृक्ष पत्तों को छोड़ देता है, उसी प्रकार से विवेक ज्ञान को प्राप्त करके योगी कर्म-बन्धन से छूट जाता है। ध्यानयोग का आनन्द प्राप्त होने पर योगी के कर्म, योगी को स्वयं छोड़ देते हैं। जैसाकि शास्त्र-प्रमाण है—

न कर्माणि त्यजेद्योगी,
कर्मभिस्त्यजते असौ।
विदिते परतत्वे तु,
समस्तैर्नियमैरलम्॥
तालवृन्तेन किं कार्यम्,
लब्धं मलयमारुते।
ज्ञानामृत रसो येन,
सकृदास्वादितो भवेत्॥
स सर्वकार्यमुत्सृज्य,
तत्रैव परिधावति॥

अर्थात् योगी कर्मों को न त्यागे, कर्म ही योगी से स्वयं छूट जायेंगे। परतत्व के जान लेने पर समस्त नियमों के पालन की आवश्यकता नहीं रह जाती। जब मलयाचल की शीतल वायु चलने लगे तो तालवृन्त से क्या प्रयोजन! जिसने एक बार भी ज्ञानामृत रस का आस्वाद ले लिया हो, वह सारे कर्मों को छोड़कर उधर ही भागता है। आत्मरामी के लिए कर्म त्याग का कोई दोष नहीं लगता—

"आत्मन्येवात्मनः तुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते"

इस भगवद्वचन के अनुसार जो आत्मा में ही रमण करने वाला है, उसके लिए कोई कर्म नहीं है। इसलिए जब तक अन्तःकरण की शुद्धि पूर्णरूपेण होकर ज्ञान का उदय न हो जाय तब तक कर्म करते रहना चाहिए—

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां,
क्षयात्पापस्य कर्मणः।
यथा आदर्शतले प्रख्ये,
पश्यन्त्यात्मानमात्मनि॥

अर्थात् पाप-कर्मों का क्षय होने पर मनुष्य को ज्ञान स्वयं हो जाता है। जिस प्रकार से स्वच्छ दर्पण पर हम अपने आपको देख लेते हैं।

ईशावास्योपनिषद् में भी कर्म तथा ज्ञान दोनों के समुच्चय दर्शाया गया है। निम्न मन्त्र इस तथ्य की पुष्टि करता है—

विद्यां च अविद्यां च,
यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युतीर्त्वा,
विद्यया अमृतमश्नुते॥

अर्थात् विद्या तथा अविद्या दोनों को जानना चाहिए। कर्म से मृत्यु को पार करके ज्ञान से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। ज्ञान और कर्म दोनों की आवश्यकता तत्व ज्ञान

के लिए रहती है निम्न श्लोक इस बात की पुष्टि करता है—

समाभ्यामेव पक्षाभ्याम्,
यथा खे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञान कर्मभ्यां,
लभते परमं पदम् ॥

अर्थात् जिस प्रकार से दोनों पक्षों (पंखों) से पक्षी आकाश में उड़ता है, उसी तरह से ज्ञान व कर्म दोनों से परम पद की प्राप्ति की जाती है। कर्मों का अधिकार क्षेत्र ज्ञान प्राप्ति तक ही है।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते

योग-दर्शन में विवेक-ख्याति पर्यन्त योग के अंगों का विधान बताया गया है।

योग-दर्शन के अनुसार जीव क्लेश कर्म विपाकाशय से ग्रसित है। क्लेश कर्म की निवृत्ति योग-दर्शन का लक्ष्य है। कर्म अविद्या जन्य होते हैं। अविद्या के नाश हो जाने पर कर्म व कर्माशय का क्षय हो जाता है। अविद्या का नाश विवेक ख्याति से ही होता है। इसी विवेक ख्याति का दूसरा नाम प्रसंख्यानाग्नि भी है। इस अवस्था को प्राप्त योगी के सम्पूर्ण कर्म दग्ध बीज भाव को प्राप्त हो जाते हैं, कर्म पुनः फल देने में समर्थ नहीं होते। जिस प्रकार से भुना हुआ बीज उगता नहीं है। "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" वाली बात तभी चरितार्थ होती है। इसी अवस्था को प्राप्त योगी निष्काम कर्मयोगी कहलाया जा सकता है, इससे पहले निष्कामता की कल्पना व्यर्थ ही है। विवेकाग्नि से सब कर्म दग्ध हो जाते हैं। इसी भाव को भगवान ने—

"ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणं तमाहु पण्डितं बुधाः"

तथा

"ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन"

इत्यादि वचनों से पुष्ट किया है। विष्णु-पुराणमें भी 'योगाग्नि दग्ध कर्म चयोऽचिरात्' ऐसा कहा गया है।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) संचित (२) प्रारब्ध तथा (३) क्रियमाण।

संचित कर्म वे होते हैं जो जन्म-जन्मान्तरों के किये हुए कर्मविपाक लिये हुए चित्त-भूमिमें जमा रहते हैं जिनका फल अभी मिला नहीं है। प्रारब्ध वे कर्म होते हैं जो संचित में से निकाले हुए जीवके पूरे जीवन में अपना फल देने में लगे हुए होते हैं। इस समय किये जा रहे कर्म क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। कर्माशय के अनुसार ही जीव को विभिन्न योनि, जीवन-काल तथा मार्ग प्राप्त होते हैं—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।
(योग-दर्शन २/१३)

कर्माशय के मूल में रहते हुए उसी के अनुसार जाति (मनुष्यादि) आयु तथा भोग मिलता है। कर्माशय के अनुसार किस प्रकार से जात्यादि है इसका विवेचन इसी सूत्र पर भाष्य करते हुए व्यासदेवजी ने विस्तृत रूप से किया है। पहले कई शङ्काओं को उठाकर फिर उसका निराकरण किया है। ये शङ्कायें सभी मनुष्य के मन में हो सकती है। जो इस प्रकार हैं—

(१) क्या एक कर्म एक जन्म का दाता है अथवा एक कर्म अनेक जन्मों को देता है।

(२) क्या अनेक कर्म अनेक जन्म को देते हैं अथवा अनेक कर्म एक जन्म को देते हैं।

उपरोक्त शङ्काओं का क्रम से निराकरण करते हुए यह सिद्ध कर रहे हैं कि अनेक कर्म एक जन्म को देते हैं। भाष्य की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

तस्माज्जन्म प्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्य-

कर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्ज्जनभावेन वस्थितः प्रायवाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मरणं प्रसाध्य संमूर्छित एकमेव जन्म करोति, तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति । तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः संपद्यति इति । असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयते इति ।

अर्थात्—जन्म से मृत्युपर्यन्त तक के किये गये विचित्र (सुख-दुःख फलदायी), प्रधान (शीघ्र फलदायी) तथा उपसर्जन (विलम्ब से फलदायी) भाव से स्थित पुण्यापुण्य कर्माशय समूह मृत्यु के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। एक साथ मिलकर मरण साधनपूर्वक संमूच्छित (पिण्डीभूत) होकर एक ही जन्म को निष्पन्न करते हैं। यह जन्म उसी कर्माशय से आयु पाता है और उस आयु में उस कर्माशय के अनुसार भोग निष्पन्न होता है। यह कर्माशय जन्म, आयु तथा भोग का हेतु होने से त्रिविपाक कहलाता है।

भाव यह है कि मृत्यु के समय प्रधान कर्म जिनके संस्कार चित्त में प्रबल रूप से उत्पन्न हो चुके हैं, जाग उठे हैं और अपने जैसे पूर्व सब जन्मों के कर्माशय के संचित संस्कारों के अभिव्यंजक होकर उन्हें जगा देते हैं अर्थात् अपने अनुकूल के संस्कारों को साथ लेकर एक नया प्रारब्ध (जन्म) तैयार करते हैं। प्रधान कर्म यदि पुण्य का है तो संचित कर्माशय के पुण्य संस्कारों को लेकर मनुष्य देवादि जाति, दीर्घायु तथा सुख-भोग वाला जन्म मिलेगा। यदि प्रधान कर्म पाप का है तो अगला जन्म भी नीच योनि वाला ही होगा। मृत्यु के समय ही जीव अगले जन्म की किस योनि को प्राप्त होगा, इसका ज्ञान हो जाता है। दुःखपूर्वक शरीर त्याग या अधोमार्ग से, प्राण त्याग से अशुभ गति, सुखपूर्वक तथा यौगिक विधि से प्राण त्याग से शुभ गति का ज्ञान हो जाता है। "यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्" इस वचन का भी यही अभिप्राय है।

योग-साधन के द्वारा प्रारब्ध को भी बदला जाता है। यद्यपि "प्रारब्ध कर्मणात् भोगादेव क्षयः" यह सिद्धान्त है, परन्तु योगियों के लिए यह पूर्णरूपेण लागू नहीं होती हैं। योग-दर्शन का सूत्र है—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म-वेदनीयः।

(योग-दर्शन २/१२)

अर्थात् क्लेशमूलक कर्माशय का भुगतान इस जन्म में तथा जन्मान्तरों में होता है। दृष्ट जन्म वेदनीय कर्म वे हैं, जो इसी जन्म में किये जाते हैं तथा जिनका फल भी इसी जन्म में मिल जाता है। इनमें पुण्य कर्माशय को सम्पादन कर इसी जन्म में फल प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं। तीव्र संवेग से मन्त्र-तपस्या, समाधि का अभ्यास ईश्वर, देवता तथा सिद्ध पुरुषों की कृपा से जो पुण्य कर्माशय बनता है, वह इसी जन्म में तत्काल फल देने वाला होता है, जो अशुभ प्रारब्ध को भी शुभ में बदल देता है। जैसे नन्दीश्वर को पुण्य के प्रभाव से मनुष्यत्व से देवत्व की प्राप्ति हो गई। मार्कण्डेय ऋषि को पुण्य प्रभाव व भगवान शिव की कृपा से अमरत्व की प्राप्ति हो गई। यद्यपि मार्कण्डेय की आयु प्रारब्धानुसार सोलह वर्ष की ही थी। इसी प्रकार से घोर पाप कर्मों का फल भी इसी जन्ममें मिलता है। वे कर्म ये हैं—बहुत दुःखी डरा हुआ, रोगी, दीन, विश्वास में आये हुए प्राणी, महापुरुषों व तपस्वियों के साथ बार-बार किया गया अपकार या घात तुरन्त फल दे देता है जो घोर पाप कर्माशय को तैयार

कर देता है। जैसे पाप-कर्म के कारण नहुष अजगर बन गया। कर्म तथा कर्माशय का नाश चार अवस्थाओं में होता है। योग-दर्शन का सूत्र है--

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त तनु-विच्छिन्नोदाराणाम् ।

अर्थात् प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार कर्मों की जननी अविद्या है। ये चार प्रकार के कर्म किन-किन लोगों के होते हैं। निम्न श्लोक में बताया गया है—

प्रसुप्तास्तत्वलीनानां,
तन्ववस्थाश्च योगिनाम् ।
विच्छिन्नोदार रूपाश्च,
क्लेशाः विषयसङ्गिनाम् ।।

अर्थात् तत्वलीन (प्रकृतिलीन) के कर्माशय प्रसुप्त रूप में होते हैं। योगियों के क्रियायोग तथा समाधि के द्वारा तन्वीकरण को प्राप्त हो जाते हैं। विषयसंगियों के विच्छिन्न तथा उदार रूप होते हैं। तत्वलीन योगियोंके लिए कर्माशय संस्कार प्रसुप्त होते हैं। प्रसुप्त कर्म बीज भाव में रहते हैं, बाद में विवेकाग्नि में जला दिये जाते हैं।

योगी अपने क्लिष्ट कर्माशय को पहले तप स्वाध्याय तथा ध्यानयोग के द्वारा तनु कर लेते हैं। विवेक ज्ञान हो जाने पर इस तनु हुए क्लिष्ट कर्माशय का भी दाह हो जाता है। विच्छिन्न और उदार कर्म सांसारिक लोगोंके होते हैं, जो स्थूल शरीर द्वारा भोगने पड़ते हैं। योगी के कर्म संस्कारों का भुगतान सूक्ष्म तथा कारण शरीर में ही होता रहता है। सिद्धयोग की परम्परा में गुरुदेव अपने शिष्यों के क्लिष्ट संस्कारों का भुगतान अपने सङ्कल्प से सूक्ष्म तथा कारण शरीर द्वारा ही कर दिया करते हैं। वे उनके क्लिष्ट संस्कारों को अपने शरीर में लेकर स्वयं ही भुगतान भी कर लेते हैं। दादा गुरु महाप्रभुजी के ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं, जिनमें उन्होंने शिष्यों के क्लिष्ट संस्कारों को स्वयं ही भोग लिया। विस्तारभय से उनका वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है।

योगियों का उद्देश्य कर्म-बन्धनक्षय करना है। कर्म-जाल को योगी ही सही तरीके से काटना जानता है। "योगः कर्मसु कौशलम्" का यही अभिप्राय है। कर्म-जाल को क्रिया-योग से तनु (हल्के) कर दिये जाते हैं। हल्के हुए यह कर्माशय "ध्यान हेयास्तद्वृत्तयः" के सिद्धान्तानुसार ध्यानयोग के द्वारा उनको दग्ध बीजभाव की दशा तक पहुंचाया जाता है। विवेक ज्ञान के साथ ही योगी को धर्म-मेघ समाधि की प्राप्ति हो जाती है, जिसके उपरान्त "ततः क्लेशकर्म निवृत्तिः" के अनुसार योगी के क्लेश कर्म की निवृत्ति होने पर योगी निर्बीज समाधि में, स्वरूप में अवस्थित रहता है। योग के अतिरिक्त कर्मबन्धन से छूटने का शीघ्र तथा दृढ़ उपाय और कोई नहीं है। गीता के वचन हैं—

युक्तः कर्मफल त्यक्त्वा,
शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण,
फले सक्तो निबध्यते ।।

अन्यत्र भी भगवान ने कहा है--

योग संन्यस्त कर्माणं,
ज्ञान संछिन्न संशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि,
निबध्नन्ति धनञ्जय ।।

अर्थात् योग के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को संयस्त करके ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण संशय का नाश किये हुए आत्मारामी योगी को कर्म

(● शेष पृष्ठ २७ पर)

श्रीमद्भगवद्गीता एवं कर्मयोग

● श्री पूर्णचन्द्रपन्त शास्त्री ●

मनुष्य अपने जीवन में प्रतिक्षण कोई न कोई कर्म करता ही रहता है। वह न चाहते हुए भी विवश होकर कर्म करता है। वे कर्म ही कालान्तर में कर्माशय का रूप धारण कर लेते हैं और जीव को बन्धन में डाले रखते हैं। यदि मनुष्य कर्म रहस्य को समझकर योगनिष्ठ होकर जीवन में व्यवहार करे तो उसके द्वारा किये जाने वाले कर्म पुण्य-पाप के फलदाता नहीं हुआ करते। फलेच्छा न रखकर कर्त्तव्य बुद्धि से किया जाने वाला कर्म भोग में नहीं आता। योग-दर्शन में कहा गया है—

कर्म्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधः मितरेषाम्।

(योग-दर्शन ४/७)

अर्थात् योगियों के कर्म न पुण्य के होते हैं और न पाप के होते हैं, जबकि सांसारिक लोगों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं—पुण्य के, पापके और पुण्य तथा पाप के मिले-जुले।

शास्त्रविहित कर्म पुण्य कर्म कहलाते हैं और जिन कर्मों का शास्त्रों में निषेध किया गया है वे पाप-कर्म कहलाते हैं। फल की इच्छा न रखते हुए शास्त्रविहित कर्त्तव्य कर्मों को भगवत् प्रीत्यर्थ करना कर्मयोग कहलाता है। जो व्यक्ति जीवन भर पुण्यमय कार्यों को करते रहते हैं, किन्तु न तो फल की इच्छा रखते हैं और न अपने को उन कर्मों का कर्त्ता समझते हैं वे कर्मयोगी कहलाते हैं। फलेच्छा को त्यागकर कर्म करते रहना योगारूढ़ होने का सर्वोत्तम साधन है। जैसे—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं,
कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव,
शमः कारणमुच्यते॥

(गीता ६/३)

जो योग में आरूढ़ होना चाहता है ऐसे मननशील योग साधक के लिए निष्काम भाव से कर्त्तव्य कर्म करना ही कारण कहा गया है अर्थात् कर्म करने से ही मनुष्य योगारूढ़ हो सकता है और योगारूढ़ हो जाने पर सब प्रकार के सङ्कल्पों का मिट जाना ही उसके कल्याण का हेतु है।

भाव यह है कि फल की प्राप्ति-अप्राप्ति में हमारी समता है या नहीं, इसका पता तभी चलेगा जब हम कर्म करेंगे। इसके अतिरिक्त हमारे अन्दर स्वभाव से ही जो कर्म करने का वेग रहता है उसे मिटाने के लिए कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है। निष्काम भाव से कर्त्तव्य कर्म को करते हुए

सम्पूर्ण क्रियाओं का प्रभाव संसार की तरफ ही जाता है और साधक स्वयं योगारूढ़ हो जाता है।

योगारूढ़ता के क्या लक्षण हैं ? यह बात अगले श्लोक में बताई गई है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु,
न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्प संन्यासी
योगारूढस्तदोच्यते ॥
(गीता ६/४)

जिस काल में मनुष्य न तो इन्द्रियों के भोगों में और न कर्मों में आसक्त होता है, उस कालमें सर्व संकल्पों का त्यागी वह पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।

जैसे-जैसे इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि विषयों में आसक्त होना ठीक नहीं है, वैसे ही कर्मों में भी हमारी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। फलेच्छा न होने परभी हमारे मन में कर्म करने का जो वेग होता है उसे ही कर्म की आसक्ति कहते हैं। यह आसक्ति मिटती है ईश्वर प्रीत्यर्थ कर्म करने से तथा निःस्वार्थ भाव से प्राणी जगत की सेवा से। अतः साधक को चाहिए कि वह कर्म तो विधि पूर्वक और तत्परता से करे पर उसमें आसक्त न होकर सावधानीपूर्वक निर्लिप्त रहे।

अखिल जगन्नियन्ता योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने पवित्र गीतोपदेश में दो निष्ठाओं का उल्लेख किया है—सांख्यनिष्ठा और योग-निष्ठा। इनमें 'सांख्य' शब्द का अभिप्राय ज्ञानयोग से है और 'कर्म' शब्द कर्मयोग का वाचक है। दोनों का लक्ष्य परमात्मा प्राप्ति ही है। इन दोनों निष्ठाओं में कर्मयोग का विशेष महत्व है।

संसार अंशी है और शरीर उसका अंश है। अतः इसे संसार की वस्तु समझते हुए संसार की सेवा में लगा देना कर्मयोग है। कर्मयोग में कर्म संसार के लिए और योग अपने लिए होता है। अपने लिए कुछ न करने से कर्तृत्व स्वतः नष्ट हो जाता है, तथा कर्म अकर्म बन जाते हैं।

गीता के दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवे, छठे, बारहवें तथा अठारवें अध्याय में कर्मयोग का विस्तृत वर्णन किया गया है। तीसरे अध्याय में तो आद्योपान्त कर्मयोग का ही वर्णन है। इस अध्याय का नाम ही कर्मयोग रखा गया है।

मनुष्य कर्म करने के लिए विवश है और कर्म करना उसका अधिकार भी है। अतः उसे कर्त्तव्य बुद्धि से तथा समता का भाव रखते हुए भी अपने सभी कर्म करने चाहिए।

(● पृष्ठ २५ का शेष)

बाँधते नहीं है। योगी पाप-पुण्य से निर्लिप्त हो जाता है। योग-दर्शन का सूत्र—

कर्माशुक्लाकृष्ण योगिनः त्रिविध-मितरेषाम् ।

अर्थात् योगी के कर्म न पाप के होते हैं न पुण्य के। सांसारिकों के तीन प्रकार के होते हैं। पुण्य के पाप के तथा पुण्य-पाप मिश्रित। भगवान ने गीतामें भी यही बात कही है—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च,
त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यात्यागिनां प्रेत्य न तु,
संन्यासिनां क्वचित् ॥

इसलिए योग ही एकमात्र उपाय है जिससे मनुष्य कर्मबंधन को काट डालता है। जिसके उपरान्त ही वह अपने नित्य, शुद्ध स्वरूप में अवस्थित रह सकता है। अतः जन्म-मरणरूपी भवचक्र से छूटने के लिए बुद्धिमान को योग का अनुष्ठान करना ही चाहिए। ●

कर्मण्येवाधिकारस्ते,
मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा,
ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
(गीता २/४७)

तेरा कर्म करने में अधिकार है फल-प्राप्ति में नहीं। इसलिए फल की इच्छा मत रख और कर्म करना भी मत छोड़।

इस श्लोक में चार बातें बताई गई हैं—

(१) ईश्वर ने मनुष्य को कर्म करने का अधिकार दे रखा है। अतः उसे ईश्वर की आज्ञा समझकर कर्त्तव्य-पालन के उद्देश्य से सदैव कर्मरत रहना चाहिए।

(२) कर्मों का फल प्राप्त करने में वह किसी प्रकार भी स्वतन्त्र नहीं है। अतः उसे फल की चिन्ता ईश्वर पर छोड़ देनी चाहिए।

(३) अपने द्वारा किये गये कर्मों में तनिक भी ममता एवं आसक्ति नहीं रखनी चाहिए।

(४) तू कर्म करना मत छोड़। क्योंकि जिस प्रकार निषिद्ध कर्मों को करने से मनुष्य पाप का भागी बनता है, उसी प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन न करना भी मर्यादा का उल्लंघन है।

योगस्थः कुरु कर्माणि,
सङ्ग त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा
समत्वं योग उच्यते ॥
(गीता २/४८)

हे धनंजय ! तू आसक्ति को त्याग कर सफलता और असफलता में समान बुद्धिवाला होकर तथा योग में स्थित होकर कर्म करता जा। क्योंकि समत्व ही योग कहलाता है।

इस समतावस्था को प्राप्त करने के लिए कर्मयोगी अपने सभी कर्मों एवं उसके फल में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रखता। जिस कारण वह राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारों से निलिप्त रहता है। सफलता मिलने पर उसे हर्ष नहीं होता और असफलता मिलने पर वह किसी प्रकार का शोक भी नहीं करता।

उपरोक्त श्लोक पर अपने भाष्य में श्री शङ्कराचार्य जीमहाराज ने लिखा है—

हे अर्जुन ! तू योग में स्थित होकर केवल ईश्वर के लिए कर्म कर। उसमें भी "ईश्वर मुझ पर प्रसन्न हो जाय" इस प्रकार की कामना को त्यागकर कर्म कर। फल तृष्णा से रहित होकर पुरुष द्वारा कर्म किये जाने पर अन्तःकरण की शुद्धि से उत्पन्न होने वाली ज्ञान-प्राप्ति तो सिद्धि है और ज्ञान-प्राप्ति का न होना असिद्धि है। इन दोनों सिद्धि और असिद्धि में समभाव रखते हुए कर्म करता जा, क्योंकि सिद्धि और असिद्ध में समता का भाव रखना ही योग है।

कर्मयोग में तीन बातें सदैव स्मरणीय होती हैं—

(१) मेरा निजी कुछ नहीं है।

(२) मुझे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए।

(३) मुझे अपने (स्वयं के) लिए कुछ नहीं करना है।

गीता के तीसरे अध्याय में कर्मयोग का सविस्तार वर्णन किया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा वस्तुतः एक ही हैं और दोनों का आधार कर्म है और तत्वज्ञान की प्राप्ति रूप फल भी एक ही है। अन्तर है तो केवल इतना कि सांख्य (ज्ञानयोग) में विवेकपूर्ण वैराग्य की प्रधानता रहती है और कर्मयोग में निःस्वार्थ कर्म की।

अतः मनुष्य को सदैव कर्मरत रहना चाहिए। क्योंकि—

न कर्मणामनारम्भा-
न्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव,
सिद्धिं समाधिगच्छति॥
(गीता ३/४)

मनुष्य न तो कर्मोंको आरम्भ किये बिना निष्कर्मता (योगनिष्ठ) को प्राप्त होता है और न कर्मों के त्याग मात्र से ज्ञानयोग की सिद्धि को प्राप्त होता है। भाव यह है कि कर्मयोग का आचरण करने वाला मनुष्य कर्मों को करता हुआ ही निष्कर्मता को प्राप्त होता है। इसी प्रकार ज्ञानयोगी कर्म में कर्त्तापन के अभिमान को त्यागकर तत्वज्ञान की प्राप्ति-रूप सिद्धि को प्राप्त होता है।

जिस स्थिति में साधक के कर्म अकर्म बन जाते हैं अर्थात् बन्धन-कारक नहीं होते, उस स्थिति को ही निष्कर्मता कहा गया है। जिस प्रकार भुने हुए या छिलके से रहित हुए बीज में पुनः अंकुरित होने की शक्ति नष्ट हो जाती है, इसी प्रकार कामना रहित होकर तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से किये गये कर्म शुभाशुभ फल के दाता नहीं होते।

प्रकृति निरन्तर परिवर्तनशील है। शरीर एवं इन्द्रियाँ प्रकृति का ही अंश हैं। अतः प्रतिक्षण बदलते हुए पदार्थों के साथ अपना सम्बन्ध मानने के कारण मनुष्य किसी भी अवस्था में एक क्षण के लिये भी कर्म किये बिना रह नहीं सकता। प्रकृति के गुणों के वशीभूत होनेसे उसे विवश होकर कर्म करना पड़ता है। साधक इस विवशता से तभी मुक्त हो सकता है जब उसे यह यथार्थ अनुभव हो जाय कि गुण ही गुणों में बरत रहे हैं, प्रकृति की इन क्रियाओं से मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। कर्मयोगी नित्य परिवर्तनशील सांसारिक पदार्थों की कामना का त्याग करके इस परवशता को मिटा देता है और कर्म करना नहीं छोड़ता, क्योंकि फलेच्छा एवं आसक्ति को त्याग कर कर्त्तव्य कर्मोंको करते रहना और मन को ईश्वर-चिन्तन में लगाये रखना ही वास्तविक कर्मयोग है। इसके विपरीत हठपूर्वक त्यागी बनकर कर्मों को छोड़ देना मिथ्याचार (ढोंग) कहलाता है। इस सम्बन्ध में भगवान की ओर से यह स्पष्ट चेतावनी है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य
आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा
मिथ्याचारः स उच्यते॥
(गीता ३/६)

जो मूढ़-बुद्धि मनुष्य अपनी आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों को और हस्त-पादादि कर्मेन्द्रियों को हठपूर्वक रोक लेता है, किन्तु मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है वह व्यक्ति ढोंगी कहलाता है, किन्तु—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा
नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोग-
मसक्तः स विशिष्यते॥
(गीता ३/७)

जो साधक मन से इन्द्रियों को भलीभाँति वश में करके लोक और परलोक के समस्त भोगों में आसक्ति रहित होकर तथा लाभ-हानि में समान बुद्धि रखकर अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा लोक-संग्रह के लिए कर्मयोग का आचरण करता है वही श्रेष्ठ है।

किस प्रकार के कर्म बन्धन कारक होते हैं इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र,
　　लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय,
　　मुक्तसङ्गः समाचर ॥
　　　　(गीता ३/९)

यज्ञार्थ किये जाने वाले कर्मों से विपरीत कर्मों में लगा हुआ जन-समुदाय ही कर्मों में बँधता है। इसलिए अनासक्त होकर यज्ञार्थ कर्म करो।

शास्त्रविहित वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्य-पालन रूप कर्म तथा यज्ञ, दान, तप, होम, मन्त्र-जाप, वेदाध्ययन एवं ध्यानाभ्यास आदि सभी पारमार्थिक कृत्य और दूसरों को सुख पहुँचाने एवं उनका हित करने के उद्देश्य से किये जाने वाले सभी सात्विक कर्म यज्ञार्थ कर्म कहलाते हैं। वस्तुतः यज्ञार्थ कर्म का अभिप्रायः सात्विक कर्म से ही है। गीता के अठारहवें अध्याय में सात्विक कर्म की परि-भाषा बताते हुए कहा गया है—

नियतं संगरहितमराग-
　　द्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म
　　यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥
　　　　(गीता १८/२३)

अर्थात्—जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ है और कर्तत्व के अभिमान से रहित है तथा फल की इच्छा न रखने वाले पुरुष के द्वारा राग-द्वेष से रहित होकर किया गया है ऐसा कर्म सात्विक कर्म कह-लाता है।

इसके अतिरिक्त जितने भी सकाम और निषिद्ध कर्म हैं वे यज्ञार्थ से अन्यत्र कर्म कहे जाते हैं। भोगेच्छा और ऐश्वर्यबुद्धि से अपने सुख और आराम के लिए किये जाने वाले सभी प्रकार के राजस और तामस कर्म इसी श्रेणी में आ जाते हैं। ये सभी कर्म मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र में घुमाने वाले होते है, किन्तु यज्ञार्थ कर्मों में आसक्ति का अभाव होने के कारण वे स्वयं तो भोग में नहीं आते साथ ही साधक के पूर्वसंचित कर्माशय को भी भस्म करके उसे सर्वथा निष्पाप बना देते हैं।

योगसन्यस्त कर्माणं
　　ज्ञानसंछिन्न संशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि
　　निबध्नन्ति धनजय ॥
　　　　(गीता ४/४१)

कर्मयोग के द्वारा जिसका सम्पूर्ण कर्मों से विच्छेद हो गया है और ज्ञान के द्वारा जिसके सम्पूर्ण संशयों का नाश हो गया है, ऐसे स्वरूपपरायण योगीको कर्म नहीं बांधते।

संसार में यज्ञ, दान, तप आदि पवित्र करने वाले जितने भी साधन हैं उन सबका साध्य तत्व ज्ञान है। यह तत्वज्ञान ही योग-सिद्धि की पराकाष्ठा है। कर्मयोगी के अन्दर यह परम पवित्र तत्वज्ञान स्वतः ही प्रकट हो जाता।

न हि ज्ञानेन सदृशं,
　　पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः,
　　कालेनात्मनि विन्दति ॥
　　　　(गीता ४/४८)

अर्थात् जिस तत्वज्ञान से सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं और जिसके समान पवित्र करने

वाला संसार में दूसरा कोई साधन नहीं है। उसी तत्वज्ञान को कर्मयोगी दूसरे किसी साधन के बिना स्वयं अपने आप में ही प्राप्त कर लेता है।

१२वें अध्याय के १२वें श्लोक में भक्तियोग के अन्तर्गत भगवत्प्राप्ति के लिए अभ्यास, ज्ञान एवं ध्यान ये तीन साधन बताये गये हैं और कर्मफल त्याग को इन तीनों से श्रेष्ठ बताया गया है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासा-
ज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफल त्याग-
स्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥
(गीता १२/१२)

अभ्यास से शास्त्र-ज्ञान श्रेष्ठ है, शास्त्र-ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मफलों का त्यागना (ईश्वर को अर्पण करना) श्रेष्ठ है, क्योंकि कर्मफल त्याग से शीघ्र ही परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। यहाँ 'कर्मफल त्याग' शब्द कर्मयोग का ही वाचक है, क्योंकि कर्मयोग में कर्मफल त्याग की ही प्रधानता रहती है।

आत्म-कल्याण के साधनों में कर्मयोग की विशेष महत्ता है।

कर्मयोगस्तु कामिनाम्।

अर्थात् विषयासक्त सांसारिकजनों के लिए कर्मयोग ही कल्याण का उत्तम साधन है।

गीता में कर्मयोग को ही महत्ता दी गई है। योग के तीनों अन्तर्विभागों ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का समीक्षात्मक विवेचन करके तथा कर्म-मीमांसा को भली-भाँति समझाकर अन्त में अठारहवें अध्याय में अखिल ब्रह्माण्डनायक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इसी एक अटल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि समता का भाव रखकर ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करता हुआ ही मनुष्य परमसिद्धि का भाजन बनता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरत:,
संसिद्धि लभते नर:।
स्वकर्मनिरत: सिद्धि,
तथा विन्दति तच्छृणु।
(गीता १८/४५)

राग-द्वेष रहित होकर तत्परता से अपने कर्त्तव्य कर्मों के सम्पादन में लगा हुआ मनुष्य ईश्वर प्राप्ति रूप परम सिद्धि को पा जाता है। अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य किस प्रकार सिद्धि को पा जाता है, उसे तू मेरे से सुन—

यत: प्रवृत्तिर्भूतानां,
येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य,
सिद्धि विन्दति मानव:॥
(गीता १८/४६)

मनुष्य को अपने प्रत्येक कर्म को करते समय इस बातका सदैव ध्यान रखना चाहिए कि सम्पूर्ण प्राणियों के सहित यह समस्त जगत ईश्वर से उत्पन्न हुआ है और ईश्वर से व्याप्त है। इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाले सर्व शक्तिमान, सबके आधार और सबकी आत्मा परमेश्वर ही हैं। ऐसा समझकर परम श्रद्धा और विश्वास के साथ अपने समस्त कर्मों में अहंता ममता और फलेच्छा को त्यागकर भगवानकी आज्ञा-नुसार उन्हीं की प्रसन्नता के लिए कर्म करने चाहिए। इस प्रकार निःस्वार्थ भाव से किये जाने वाले अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पर-मेश्वर की पूजा करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है।

गुरु-मंत्र का सहारा ले

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

मनुष्य को अपना मन ही समानयों और चतुराइयों की जाली बनाकर उसमें फँसा देता है। जो भाग्यशाली चतुराइयों को छोड़ कर गुरु-मन्त्र का सहारा लेते हैं। केवल वे ही दुःखों और बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं।

जिसको आत्मा की मुक्ति का विचार हो उसे मनके चातुर्य के चक्र में न फँसकर अपनी सुरति को नाम में लीन करने का अभ्यास करना चाहिए। जब मन की दौड़-धूप सर्वथा मिट जायगी और जीव सहज स्वभाव नाम-जप में लग जायगा, तब मनुष्य की चिन्ताओं का बोझ उतर जायगा और उसकी सारी जिम्मेदारियाँ ईश्वर अपने ऊपर ले लेंगे।

नामाभ्यासी पर यदि कोई संकट आ भी जाये तो वह घबराता नहीं, मनुष्य का सहारा भी नहीं लेता। वह तो हर एक दुःख का उपचार प्रभु के नाम को ही समझता है।

भक्त ध्रुव की माता का नाम सुनीति था और वह बड़ी भक्ति-भावना वाली थी। जब राजा उत्तानपाद ने ध्रुव को अपनी गोद में बैठने नहीं दिया और राजा की दूसरी रानी सुरुचि ने उसे बुरा-भला कहा और ध्रुव कठोर वचन सुनकर पीड़ित हुआ और रोते-रोते अपनी माता के पास गया तो उसकी माता ने यही ढंग अपनाया।

सांसारिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो जैसा अधिकार राजगद्दी पर सुरुचि का था, वैसा ही सुनीति का भी था, किन्तु उसने कोई प्रतिरोध न किया और न ही किसी के पास शिकायत ले गई। बड़ी शान्तिपूर्वक अपने सुत ध्रुव को प्रभु के समर्पित कर दिया और उसे समझाया कि वत्स! और सब आश्रय कच्चे और मिथ्या है, प्रभु का आश्रय पक्का और सच्चा है। ध्रुव भी सब ओर से अपने मन को हटाकर जगत की आशा और तर्कणा को छोड़कर नाम भ्यास में लग गया। अपने सर्वस्व को भगवान के अर्पित कर देने पर उस परमात्मा ने उसकी सारी व्यवस्था कर दी। भगवान ने नारदजी को राजा उत्तानपाद के पास भेजा और कहा कि उसे कहो कि तुमने बड़ा अन्याय किया है जिसका फल तुम्हें भी भोगना पड़ेगा। इस लोक में तुम्हारी निन्दा होगी और परलोक भी बिगड़ जायगा। राजा ने भी अनुभव किया और स्वयं ध्रुव के समीप गया और उसे राज्य स्वीकार करने की बात कही, किन्तु जिसने राम-भक्ति के रस का आनन्द ले लिया था, वह कब इन झूठे रसों से सन्तुष्ट होने वाला था—उसने स्पष्ट निषेध कर दिया। अन्ततोगत्वा उस ध्रुव ने ऐसी पदवी प्राप्त की जो उसकी सौतेली माता सुरुचि और उसके पिता उत्तानपाद को भी उपलब्ध न हुई। यह सब देन इस कारण हुई कि सुनीति ने ऊपर लिखे वचन को क्रियान्वित किया था, न उसने राजा को उपालम्भ दिया न ही अपनी सौतिल माता सुरुचि से कलह किया

और न्यायालय का द्वार भी खटखटाया। न ही किसी धनीमानी के पास अपना दुखड़ा सुनाने गई। क्योंकि उसे पूर्ण विश्वास था कि राजाओं के राजा तो श्री भगवान ही हैं। जिन्होंने भी उस प्रभु का आंचल पकड़ा, वे निश्चिन्त हो गये।

ईश्वर की शरण ही सुरक्षित स्थान है। मनुष्य को दृढ़ चित्त होकर अपना मन उसमें लगाकर लौकिक सहारा प्राप्त करना चाहिए जिसने यह कार्य किया उसका जन्म सफल हो गया। क्योंकि मनुष्य जन्म पाकर जो आनन्द प्राप्त किया जा सकता है वह यही तो है। यह आनन्द अर्थात् प्रभु की शरण में जाकर उनकी भक्ति करने का अवसर अन्य किसी योनिमें प्राप्त नहीं हो सकता। वास्तव में आनन्द नाम ही उसका है जो आनंदस्वरूप भगवान में समा जाय। आनन्दस्वरूप हो जाना, परम पद को पा लेना, जीव से ब्रह्म बन जाना अथवा मोक्षधाम में पहुँच जाना। ये सब एक ही हैं। जिन-जिन भक्तों के उदाहरण मिलेंगे, जिन्होंने कोटि-कोटि लोगों अथवा राजा महाराजाओं पर विजय प्राप्त की उन्होने यही भक्तिवाला मार्ग ही स्वीकार किया था।

ध्रुव की माता ने जैसे उसे सत्य का मार्ग दिखलाकर उच्च शिखर पर पहुँचाया, वैसे ही हमारे सच्चे माता-पिता श्री सद्गुरुदेवजी जो हमारे अत्यन्त हितैषी हैं, उन्होंने भी हमें सच्चे नाम की ओर चलने का उपदेश दिया है और हमको इधर-उधर भटकने से रोका है। मनमति के अनुसार चलना तो पानी बिलोना है, इससे तत्व वस्तु कोई भी प्राप्ति नहीं होती, हानि ही होती है। उसी समयको व्यर्थ में खो देना और समय पर भक्ति कर लेना इनमें से हम घाटे वाला काम क्यों करें।

श्री परमपावन गुरुदेवजी के पास एक शिष्य आया। उसने विनय की कि आजकल मेरा भाग्य ही कुछ ऐसा विपरीत हो गया है कि जो भी काम करता हूँ, उसका परिणाम उल्टा ही निकलता है। मैं तो अपनी बुद्धि से सम्पूर्ण उपाय करके थक गया हूँ और अब मैं आपकी शरण में आया हूँ। मुझे आप कोई ऐसी युक्ति बता दीजिये कि जिससे चित्त को शान्ति मिले। शिष्य की यह प्रार्थना सुनकर गुरुदेव जी ने कहा :

यदि मानव के अपने हाथ में कुछ होता तो सारी सृष्टि सुखी और आनंदित हो जाती, परन्तु यह कला तो प्रभु ने अपने हाथ में रखी है। जो अपनी चतुराइयों को एक ताक पर रखकर उसकी शरण में जाता है तो वह उस की देन को पाकर परमानन्द को पा लेता है। हमने जो आपको नाम-मन्त्र का उपदेश दिया है तुम उसकी कमाई करोगे तो तुम्हें उन्नति का फल मिलेगा, क्योंकि वह नाम-मन्त्र प्रभु का ही रूप है। जब प्रभु आपके साथ होंगे तो दुःख-क्लेश आपको छू भी न सकेंगे। तुम्हारा मन जब नाम-मन्त्र में रम जायगा तो प्रभु तुम्हारे संग-संग होगा।

देखिये, कितना स्वच्छ और सुन्दर आशीर्वाद से भरा हुआ वचन है? इस पर आचरण करना ही सब दुःखों से छुटकारा पाने का सही प्रयत्न है। जितनी भी सृष्टि दुःखी है वह सब इसी वचन का उल्लंघन करने के कारण ही आकुल है। इस संसार का जितना अपनी बुद्धि पर विश्वास है उतना प्रभु की शक्ति पर नहीं है। इसलिए वे इस महावरदान से वंचित रह जाते हैं। तुम चिन्ता और चातुर्य को त्यागकर उठते-बैठते, सोते-जागते हरि का स्मरण करो, वे तुम्हारा प्रतिपल पथ-प्रदर्शन

(● शेष पृष्ठ ३५ पर)

भोगवाद और आत्मवाद

● स्व० श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार

भारतीय संस्कृति का लक्ष्य है आत्म-साक्षात्कार या भगवत्प्राप्ति पर आज के जगत का लक्ष्य है भोग प्राप्ति। इसीसे भारतीय सिद्धान्त है आत्मवाद या ईश्वरवाद और आज के जगत का सिद्धान्त है भोगवाद। भगवान् ने गीता में सर्वथा पतन या सर्वनाश का कारण बतलाया है भोग-चिंतन या विषय-चिंतन। भगवान् कहते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः,
सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात्संजायते कामः,
कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

क्रोधाद्भवति संमोहः,
संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो,
बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।

(गीता २/६२-६३)

"भोगों के या विषयों के चिन्तन से उन विषयों में आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से (उनको प्राप्त करनेकी) कामना पैदा होती है। कामना (सफल होने पर लोभ और उस) की विफलता में, काम पर चोट लगने पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध (या लोभ) से सम्मोह होता है, पूरी मूढ़ता छा जाती है। मूढ़ता से स्मृति भ्रमित हो जाती है। स्मृति-भ्रमित होने पर बुद्धि मारी जाती है और बुद्धि के नाश से सर्वनाश होता है।"

ये सर्वनाश के आठ स्तर हैं। इनमें सबसे पहला है विषयों का, भोगों का चिंतन। इसी से अन्त में बुद्धि-नाश होकर सर्वनाश होता है। भोग जिसके जीवन का लक्ष्य होगा, भोगवाद ही जिसका सिद्धान्त होगा वह व्यक्ति हो, चाहे व्यक्तियों का समुदाय-समाज हो, समाजों से भरा देश हो, देशों का समूह राष्ट्र हो या राष्ट्रों का समुदाय विश्व हो, जहाँ भोगवाद है, वहाँ भोग-चिन्तन है और जहाँ भोग-चिन्तन है वहीं परिणाम में सर्वनाश है। भगवान् ने भोगजनित सुखको पहले मधुर लगने वाला परन्तु परिणाम में विष के सदृश बतलाया है। वे कहते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगा-
द्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव,
तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

(गीता १८/३८)

"विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग होने पर जो पहले अमृत के समान (मधुर) लगता है, परन्तु जो परिणाम में विषके तुल्य (कार्य करता) है, वह सुख राजस कहलाता है।"

एक जगह भोग-सुख को भगवान् ने दु:खों की उत्पत्ति का स्थान, दु:खरूप फल का खेत बतलाया है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा,
दु:खयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न,
तेषु रमते बुधः ॥

(गीता ५/२२)

"इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न जो सब भोग हैं, वे निःसन्देह दुःख की उत्पत्ति स्थान हैं तथा आदि-अन्त वाले अनित्य हैं। भैया अर्जुन! बुद्धिमान पुरुष उनमें प्रीति नहीं करता।"

अवश्य ही भारतीय संस्कृति में भोग का बहिष्कार नहीं है। अर्थ और काम का तिरस्कार नहीं है, परन्तु वे जीवन के लक्ष्य नहीं हैं। भोग रहें, पर रहें धर्म के नियन्त्रण में और उनका लक्ष्य हो मोक्ष या भगवत्प्राप्ति। पुरुषार्थ चतुष्टय में इसीलिए अर्थ, धर्म, काम मोक्ष चारों को स्थान है। धर्मनियन्त्रित अर्थ-काम भगवत्सेवा में नियुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति के साधन बनते हैं और वे ही 'अर्थ-काम' जीवन के लक्ष्य बनकर मनुष्य को घोर अशान्ति तथा चिन्तामय जीवन बिताने को बाध्य करके अन्त में नरकों की यन्त्रणा में पहुंचा देते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है— 'अर्थ' और 'काम' में फँसे लोग कुत्ते और बंदरों के समान हो जाते हैं। (१/१८/४५) धन—लक्ष्मी रहे, वह परम मंगलमयी है, पर वह तभी मंगलमयी है, जब सर्व-व्यापी—प्राणीमात्र के रूप में अभिव्यक्त भगवान विष्णु की सेविका होकर रहती है। नहीं तो उसे अपनी भोग्या बनाकर तो मनुष्य महापाप करता है, जिससे उसका निश्चित पतन होता है।

हमारे इस धर्म से किसी वाद का लक्ष्य नहीं है या केवल आध्यात्म विचार ही धर्म नहीं है। धर्म उस निष्ठा, विचार और क्रिया-पद्धति का नाम है, जो सबको धारण करता है। जिससे मनुष्य का सात्विक उत्थान हो, जो प्राणीमात्र का हित तथा सुख का साधन हो तथा अन्त में निःश्रेयस या मोक्षकी प्राप्ति कराने वाला हो, वही धर्म है।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः।
(वैशेषिक० १/२)

श्री बाल्मीकीय रामायण में भगवान श्री रामजी लक्ष्मणजी से कहते हैं—

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके,
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे,
भार्येव वश्याभिमता॥

यस्मिस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा,
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके,
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥
(अयोध्याकाण्ड २१/५७-५८)

(● पृष्ठ ३३ का शेष)

करेंगे। इससे पथ में जितने भी शत्रु आवेंगे, वे सब उस नाम के आगे न टिक सकेंगे। तुम जो कहते हो कि मुझे दुःखों ने घेर लिया है अथवा चिन्ताओं की डोरियों ने मेरी रग-रग बाँध रखी है, वे सब बन्धन तुम्हारे स्वयमेव ही टूट जायेंगे।

इतने वचन सुनकर वह शिष्य श्रीगुरुदेव के चरणों में गिर गया और नाम में ध्यान को जोड़ने की प्रार्थना की और श्री गुरुदेवजी का आशीर्वाद पाकर स्मरण-ध्यान में लग गया।

अतः हमारा धर्म है कि 'सत्यवचनी' बन कर विनम्रता को अपनाकर श्री सद्गुरुदेवजी की कृपा करने का प्रयत्न करें, मन के कहने पर धोखा न खायें। यह तो अटल सिद्धान्त है कि मन की सीमा से निकलकर ही आत्मा के देश में पदार्पण किया जा सकता है। जहाँ कोई शोक, चिन्ता, दुःख, क्लेश, भ्रम-भ्रांति नहीं है, उसका नाम है "निर्भय देश।" ●

"धर्म के फलस्वरूप सुख-सौभाग्यादि की प्राप्ति में जो धर्म, अर्थ और काम देखे जाते हैं, वे तीनों एक धर्म में वर्तमान हैं। धर्म के अनुष्ठान से ही तीनोंकी सिद्धि होती है, इसमें सन्देह नहीं है। वैसे ही जैसे पति के अधीन रहने वाली भार्या अतिथि-पूजनादि धर्म में, मनोऽनुकूल होने से काम में और सुपुत्रवती होकर अर्थ में सहायिका होती है। जिस कर्म में धर्म, अर्थ काम—तीनों सन्निविष्ट न हों, परन्तु जिससे धर्म की सिद्धि होती हो, वही कर्म करना चाहिए। जो केवल अर्थपरायण होता है वह लोक में सबके द्वेष का पात्र बन जाता है और धर्म-विरुद्ध कामभोग में आसक्त होना भी प्रशंसा की नहीं, निन्दा की बात है।"

भोगवादी इस धर्मकी परवा नहीं करता। उसका निश्चित सिद्धान्त ही होता है कामोपभोग—

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः

(गीता १६/११)

"विषयभोग में लगे मनुष्य बस यही सब कुछ है, ऐसा निश्चित रूप से मानते हैं।"

यह आसुरी सम्पदा वाले असुर-मानव का निश्चित सिद्धान्त है।

भोगवाद ही आसुरी सम्पदा है या आसुरी सम्पत्ति ही भोगवाद है।

भोगवादी या असुर-मानव कर्म को नहीं मानता, वह भगवान का भजन तो करता ही नहीं। भगवान ने उसके लिए कहा है—

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः,
प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना,
आसुरं भावमाश्रिताः ॥

(गीता ७/१५)

"आसुरी भाव का समाश्रयण किये हुए माया के द्वारा अपहृत ज्ञान वाले दूषित कर्म करने वाले नराधम मूढ़ मुझको (भगवान को) भजते ही नहीं।" भगवान को नहीं, भजते, भोगों में लगे रहते हैं, इसीसे वे नराधम तथा मूढ़ हैं।

ऐसे भोगवादी असुर-मानव को जीवन में मिलते हैं—चिन्ता, अशान्ति, कामजनित पाप तथा मृत्यु के बाद नरकों की प्राप्ति तथा बन्धन। यथा—

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः

(गीता १६/११)

"मृत्यु के अन्तिम क्षण तक अपरिमित चिन्ताओं से घिरे रहते हैं।"

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः

(गीता १६/१६)

"मोहजाल से समावृत अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त (अशान्त) रहते हैं।"

काम एष क्रोध, एष
रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा,
विद्ध्येनमिह वैरिणम ॥

(गीता ३/३७)

श्रीभगवान ने कहा—"रजोगुण (विषयासक्ति) से उत्पन्न यह काम ही (चोट खाकर) क्रोध बन जाता है। यह काम कभी तृप्त न होने वाला महापापी है। (मनुष्य के द्वारा होने वाले पापों में) यह काम ही वैरी का काम करता है, इसी से पाप होते हैं, ऐसा समझो।"

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ

(गीता १६/१६)

'विषय भोगों में अत्यन्त आसक्त लोग अपवित्र नरकों में पड़ते है।'

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
(गीता १६/५)

"दैवी सम्पदा से मोक्ष मिलता है और आसुरी से बन्धन। यही मत है।"

भोगवादी असुर-मानव का 'काम-क्रोध-परायण' होना अनिवार्य है।

भोगवाद का विष हमारी भारतीय संस्कृति में नहीं था। यह पाश्चात्य जगत से यहाँ आया है और अब तो समस्त विश्व में इतने भयानक रूप में इसका प्रसार हो रहा है कि दिन-रात सर्वत्र सभी क्षेत्रों में भोग-चिन्तन ही मनुष्य का स्वभाव-सा बन गया है और यह निश्चित है कि भोग-चिन्तन का परिणाम बुद्धिनाश के द्वारा सर्वनाश होता है। भोगवाद का यह विषमय परिणाम है कि आज भारत में भी पाश्चात्य जगत की भाँति प्रायः सभी वाद, चाहे वह कांग्रेस हो, कम्यूनिज्म हो, कम्यूनलिज्म हो, कैपिटेलिज्म हो, सोशलिज्म हो या कोई भी साम्प्रदायिक कहा जाने वाला वाद हो, सभी भोग दृष्टि से ही अपने कर्त्तव्य का विचार करते हैं। इसी से सर्वत्र दलबन्दी, कलह, द्वन्द्व, एक-दूसरे को गिराने की चेष्टा, एक ही धर्म-मत में परस्पर निन्दा तथा पतन की चेष्टा आदि हो रही है। यह धर्मरहित राजनीति का अवश्य-म्भावी परिणाम है। हमारे यहाँ मनु महाराज ने राजा को शिकार, द्यूत, दिवानिद्रा, पर-दोष कथन, स्त्री-सहवास, मद्यपान, नृत्य, गीत, वाद्य और व्यर्थ भ्रमण—इन कामजनित दस दोषों से तथा चुगली, अनुचित साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दूसरे के दोष के गुणों में दोषा-रोपण, द्रव्यहरण, गाली और कठोरता—इन क्रोधजनित आठ दोषों से बचने के लिए कहा है। पर आज यही सब दोष जीवन के आव-श्यक अंग या स्वभाव से बन गये हैं। अभी चुनाव के तामस यज्ञ में इनका विविध प्रकार से अकाण्ड ताण्डव प्रत्यक्ष देखा गया। हमारे प्रतिदिन के राजनीतिक जीवन में भी ये दोष अंगस्वरूप ही बन गये हैं। ऐसा होना भोग-वादी असुर-मानवके लिए अनिवार्य है, क्योंकि वह तो इन्हीं को गुण मानता है।

यह बीज केवल धर्महीन राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं है, भोगवादी के द्वारा केवल भोग प्राप्ति के लिए स्वीकृत कोई भी जीवननिर्वाह की या लौकिक उत्थान-अभ्युदय अथवा प्रगति की पद्धति भोग-चिन्तन तथा अन्त में बुद्धि-नाश के द्वारा सर्वनाश कराने वाली होती है। इसी कारण आज हमारे सामाजिक, व्यापारिक, धार्मिक, नैतिक सभी क्षेत्रों में बड़ी तेजीके साथ दैवी सम्पत्ति का ह्रास तथा आसुरी का विकास हो रहा है। जो अन्त में महान् विनाश या घोर पतनका कारण होगा।

भोगवादी असुर-मानव क्या सोचता, करता है तथा उसका परिणाम क्या होता है? इस पर भगवान कहते हैं--

इदमद्य मया लब्धमिमं,
प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे,
भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः,
शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी,
सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि,
कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य,
इत्यज्ञानविमोहिताः ॥
अहंकारं बलं दर्पं,
कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु,
प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥
तानहं द्विषतः क्रूरा-
न्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभाना-
सुरीष्वेव योनिषु ॥
आसुरीं योनिमापन्ना,
मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय,
ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥
(गीता १६/१३ से १५, १८ से २०)

'मैंने आज यह कमाया है, मेरे इस मनोरथ को भी मैं अवश्य प्राप्त करूँगा। मेरे पास यह इतना धन तो है, फिर और मिलेगा। (मेरे काम में बाधा देने वाला) वह शत्रु तो मेरे द्वारा समाप्त कर दिया गया है, जो दूसरे और हैं उनको भी मैं मार डालूँगा। मैं शासक ईश्वर हूँ, मैं ऐश्वर्य का भागी हूँ, मैं सफल जीवन हूँ, मैं बलवान और सुखी हूँ। मैं बड़ा धनवान हूँ, मैं अभिजनवान्—जनता का नेता हूँ, मेरे समान दूसरा है कौन ? मैं (बड़े-बड़े) यज्ञसेवा के कार्य करूँगा, मैं बड़े-बड़े दान दूँगा और मेरे मोद का पार नहीं रहेगा इस प्रकार अज्ञान से मोहित वे असुर-मानव मनोरथ किया करते तथा डींगें हाँका करते हैं।'

इस प्रकार जो अहङ्कार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध के आश्रित गुणियों में भी दोषारोपण करने वाले तथा दूसरों के शरीरों में स्थित मुझसे (भगवान से) बड़ा द्वेष करते हैं। उन द्वेष करने वाले, अशुभकर्ता, निर्दय, नराधमों को मैं (भगवान) संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही पटकता हूँ। भैया अर्जुन ! वे मूढ पुरुष मुझको (भगवान को) न पाकर जन्म-जन्म में (बार-बार) आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं। तदनन्तर और भी अधम गति (नरकादि) में जाते हैं।

आज के युगके भोगवादी मानव का यह प्रत्यक्ष चित्र है। सारा विश्व ही आज इन आसुरी भावों का समाश्रयण किये हुए अपने विनाश का पथ-प्रशस्त कर रहा है। सभी भोग-चिन्तनपरायण हैं। कोई मान-यश की कामना करता है तो कोई अधिकार-सत्ता की तो कोई धन-वैभव की। इसीसे सभी ओर छीना-झपटी हो रही है।

भारतीय संस्कृति का कर्तव्य पालन तथा त्याग का उज्ज्वल आदर्श था, उसकी जगह आज 'अधिकार' तथा 'भोग' ने ले ली है। सभी लोग अधिकार और अर्थ या भोग के पीछे उन्मत्त हैं। कर्तव्य तथा त्याग होने पर उचित अधिकार तथा अर्थ-भोग अपने-आप आते हैं। राम और भरत का इतिहास इसका साक्षी है। कर्तव्य तथा त्याग के कारण दोनों के अधिकार कायम रहे और दोनों ही उचित अर्थ के भागी हुए।

हमारा आदर्श ही था कर्तव्यमय त्याग। अमृतत्व की प्राप्ति त्याग से ही होती है। उपनिषद् की वाणी है—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।

कर्म से नहीं, प्रजा से नहीं, धन से नहीं, एक त्याग से ही कोई अमृतत्व को प्राप्त होते हैं । इसी से वेद का उपदेश है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं,
यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा
मा, गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।
(शुक्लयजुर्वेद ४०/१ ईशा० ३०)

अखिल विश्व में जो कुछ भी जड़-चेतन जगत है वह सब ईश्वर से व्याप्त है। उस ईश्वर को साथ रखते हुए त्यागपूर्वक भोगते रहो । इसमें आसक्त मत बनो । किसी के धन की इच्छा न करो ।

आज यह बात उपहास की-सी वस्तु बन गई है। आज तो प्रत्येक वस्तु का मूल्याङ्कन होता है—आर्थिक या भोगदृष्टिसे । ही आत्मा का प्रकाश करने वाली शिक्षा भी आज भोग दृष्टि से ही होती है। प्रत्येक वस्तु पर इसी दृष्टि से विचार किया जाता है कि इसमें आर्थिक लाभ है या नहीं ? पंचवर्षीय योजनाएँ, शिक्षा-कला-विस्तार, नये-नये कारखाने दवा-उद्योग, कसाईखाने, हिंसा-उद्योग सब इसी दृष्टि से खोले तथा चलाये जाते हैं। धर्म की कहीं कोई आवश्यकता ही नहीं, यह सब भोगवादके विषका ही विषैला प्रभाव है।

भोगवाद के विष से आक्रान्त होने के कारण आज भारत के बड़े-बड़े अध्यात्मवादी विद्वान भी, पाश्चात्य भोगवादी विद्वान बुरा न बता दें। इसके लिए अपनी संस्कृति के परम्परागत सामान्य सिद्धान्तों को तथा इतिहासों को भी यथार्थ रूपमें प्रकाश करने में हिचकते हैं और उन्हें विकृत करके उनके मतानुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह मस्तिष्क का दासत्व बड़ा ही शोचनीय तथा घातक है। इसी से हमारे प्राचीन इतिहास तथा ऐतिहासिक घटनाओं के काल बदलने की ओर सबको तीन हजार वर्ष के अन्दर लाने की चेष्टा की जा रही है और दुःख का विषय है कि हमारे विद्वान इन बातों को स्वीकार करते चले जा रहे हैं। किसी भी व्यक्ति या राष्ट्र को यदि गिराना हो तो उसका प्रधान साधन है। उसके आत्म-गौरव तथा आत्म-विश्वास को मिटा देना, उसके अपने में हीनता का बोध करा देना। यह काम पाश्चात्य विद्वानों ने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया और इसी से भारत अपने में हीनताका बोध करके सहज ही मस्तिष्क का दासत्व स्वीकार कर परमुखापेक्षी तथा परानुकरण-परायण हो गया। विदेशी भाषा, विदेशी वेशभूषा, विदेशी खान-पान, विदेशी रहन-सहन तथा विदेशी ज्ञान का गौरव के साथ ग्रहण करना। हमारी इस आत्महीनता के बोध का ही सहज परिणाम है। पाश्चात्य विद्वानों ने भ्रम से या किसी कुटिल अभिसंधि से इन तीन महाभ्रमों का प्रतिपादन और प्रचार-प्रसार किया—

(१) आर्यजाति बाहरसे आई है, भारतवर्ष उसका मूल निवास-स्थान नहीं है।

(२) चार हजार वर्ष पहले का इतिहास नहीं है।

(३) जगत् में उत्तरोत्तर विकास—उन्नति हो रही है।

मस्तिष्क की गुलामी के कारण भारतीय विद्वानों ने अधिकांश में इन तीनोंको स्वीकार

कर लिया। इसी का फल है कि आज हम भारतीयों की अपनी संस्कृति, अपने धर्म, अपने पूर्वज तथा अपने गौरवमय महाभारत-रामायणादि प्राचीन इतिहास, अपने धर्मग्रन्थ वेद-स्मृति तथा पुराण आदि पर अश्रद्धा और अनास्था बढ़ रही है और इसीसे भोगवाद के विष-विस्तार में बड़ी सुविधा होगई है। इसी से आज हम तमसाच्छन्न होकर सभी कुछ विपरीत देखने, विपरीत सोचने और विपरीत करने में गौरव मान रहे हैं। भगवान ने गीता में कहा है—

अधर्मं धर्ममिति या,
मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः
सा पार्थ तामसी ॥
(गीता १८/३२)

"अर्जुन! तमोगुण से आवृत्त जो बुद्धि अधर्म को धर्म (अवनति को उन्नति, विनाश को विकास, पतन को उत्थान, पाप को पुण्य इस प्रकार—) सभी अर्थों में विपरीत मानती है, वही तामसी बुद्धि है।"

आज का संसार भोगवाद के विषसे जर्जरित होने के कारण तमसाच्छन्न होकर इसी तामसी बुद्धिके द्वारा अपने कर्तव्य का निश्चय करता और तदनुसार चल रहा है। भारतवर्ष भी आत्म-विस्मृत होकर इसी तामसी बुद्धि का आश्रय ले रहा है।

भारत ने यदि अपने पूर्वज ऋषि-महर्षि तथा अपनी प्राचीन संस्कृति एवं धर्म-ग्रन्थों पर विश्वास करके अपनी अत्यन्त प्राचीन सर्वांग-सम्पन्न सर्वांगसुन्दर आत्मवादी आदर्श संस्कृति को न अपनाया तो इसका परिणाम उसके लिए तथा समस्त जगत् के लिए भी बुरा होगा, क्योंकि यही देश तथा यहीं की संस्कृति अनादि काल से अध्यात्म-प्रधान आत्मवादी रही है। यह आज भी वर्तमान जगत् की स्थिति से असन्तुष्ट यूरोप तथा अमेरिका के बहुत से सज्जन सच्चे शान्ति-सुख की प्राप्ति के लिए आत्मवादी भारतवर्ष की ओर ताक रहे हैं और बहुत से तो यहाँ आ-आकर अध्यात्म की शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं। पर जब भारत ही भोगवादी हो जायगा, तब तो जगत की सारी आशा ही लुप्त हो जायगी। भारत आज इसी भोगवाद के मोहजाल में फंसा है। भारत के मनीषियों को गम्भीरतापूर्वक इस पर विचार करके किसी प्रकाशमय पथ का पता लगाकर उस पर आरूढ़ होना चाहिए।

ईश्वर और धर्म

धर्म की प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकती है। क्या तुम इसके लिए तैयार हो? क्या तुम यह चाहते हो? यदि हाँ, तो तुम उसे अवश्य प्राप्त कर सकते हो, और तभी तुम यथार्थ धार्मिक होगे। जब तक तुम इसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर लेते, तुममें और नास्तिकों में कोई अन्तर नहीं। नास्तिक ईमानदार हैं, पर वह मनुष्य जो कहता है कि वह धर्म में विश्वास रखता है, पर कभी उसे प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न नहीं करता, ईमानदार नहीं है।

भागवत धर्म :

प्रेय से श्रेय की उपलब्धि

● श्री डॉ० विजयसिंह

सुख-दुःख, कर्म-अकर्म, पाप-पुण्य, जीवन-मृत्यु, आत्म-अनात्म का विचार चिरकाल से मनुष्य करता आ रहा है। भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीन तल पर मनुष्य सुख-दुःख का अनुभव करता है। अनुकूल संवेदना ही सुख है, प्रतिकूल वेदनायें ही दुःख हैं। परन्तु वेदनाओं की अनुकूलता या प्रतिकूलता इन्द्रिय या अन्तःकरण द्वारा ग्राह्य हैं। इन्द्रियों के ग्राह्य सुखका नाम प्रेय है। परन्तु वे कर्म जिनसे आत्यान्तिक सुख अथवा आत्मानन्द की प्राप्ति हो उन्हीं कर्मों को श्रेयस कर्म बताया गया है। भौतिक सुखों की उपलब्धि हेतु जो हम कर्म करते हैं, वही प्रवृत्तियाँ हैं। जिनसे नाना प्रकार के संस्कारों की उत्पत्ति अनचाहे होती रहती है। इन संस्कारों की प्रेरणा से जन्म-मृत्यु का चक्र चलता रहता है। भवावटी से निकल पाना जीव के लिए अति दुष्कर है। आज तक ज्ञान, भक्ति, योग तन्त्र सभी साधनायें मनुष्य को उसके परम-कल्याण मोक्ष की प्राप्ति के हेतु उपदेशित की गई हैं। प्राचीन काल से चले आ रहे आत्म-कल्याण के हेतु जिन साधन कर्मों का उपदेश किसी भी समाज में दिखाई पड़ता है, उनकी दो धारायें हैं। प्रथम प्रवृत्ति परक दूसरी निवृत्ति परक।

पहले संक्षेप में निवृत्ति परक साधना पर ही विचार कर लेना चाहिए। इन्द्रियोचित, सामाजिक समस्त दायों की उपेक्षा कर मात्र आत्म-कल्याण के ही समाधान में जुट जाना ही निवृत्ति कर्मकी साधना है। साधक माता-पिता, घर-द्वार, समाज-संस्कार यहाँ तक कि अपने दैहिक सुखों को भी त्याज्य समझकर उत्कट वैराग्य वृत्ति को धारण किये हुए अहर्निश आत्मानुसंधान में जुटा रहता है, पौराणिक कथाओं में ऐसी विशुद्ध आत्माओं की चर्चा की गई है। सनातन, सनक-सनन्दन आदि ऋषि, प्रचेताओंका विवरण पूर्वकालीन ब्रह्माजी के मानसी सृष्टि से सम्बन्धित आख्यानों में किया गया है। जिन्होंने सर्व प्रवृत्तियों का परित्याग कर श्रेय को ही निवृत्ति कर्मों के द्वारा अपना लक्ष्य बनाया।

एक बात स्पष्ट है निवृत्ति मार्गको अपनाने वाले धर्माचार्य या महापुरुष भव प्रत्यय योगी ही बहुधा हैं। ऐसे लोगों का अपना जीवन खाने-पीने पुत्र-कलत्र के लिए नहीं होता। उन्हें स्पष्टरूपेण आत्मानुसंधान का पूर्व जन्मों में किया गया संधान व पथ का ज्ञान रहा करता है। अतः एक पल भी ऐसे लोग खराब करना नहीं चाहते। प्रारब्ध को सहज स्वीकारते हुए भी तीव्र संवेग से आत्म-दर्शन की साधना में रम जाते हैं। साधना में आने सभी अन्तरायों का अपने आत्म-बलसे मुकाबला करते हैं तथा सांसारिक भोग-विलास, यहाँ तक कि शरीर-निर्वाह योग्य आवश्यकता का भी न्यास कर देते हैं। श्रीमद्भागवत में एक ऐसे ही योगी असमंजस की कथा आई

है। उन्हें अपने पूर्व जन्म का ज्ञान था। वे राजघराने में जन्म होने को अपने आत्म-कल्याण के पथ में बाधक जानकर कुछ ऐसा कार्य करते थे कि जिससे माता-पिता तथा अन्य लोग उन्हें मूढ़ या पागल समझें। वे ऐसा भी करते थे कि उनके प्रियजन उन्हें प्रिय न समझें। एक दिन तमाम बालकों को बलात्कार से सरजू में डुबो दिया। इस कार्य से उनके पिता ने उनका त्याग कर दिया। तब वे सभी बालकों को जीवित कर वन में चले गये।

असमञ्जस आत्मानं,
दर्शयन्न समञ्जसम्।
जातिस्मर पुरा सङ्गाद्-
योगी योगाद्विचालितः॥
आचरन् गर्हितं लोके,
ज्ञातिनां कर्म विप्रियम्।
सरय्वां क्रीडतो बालान्,
प्रास्यदुद्वेजयञ्जनम्॥
एवंवृत्तः परित्यक्तः,
पित्रा स्नेहमपोह्य वै।
योगैश्वर्येण बालांस्तान्,
दर्शयित्वा ततो ययौ॥

अतः निवृत्तिपरक कर्म यतियों, संन्यासियों व तीव्र वैराग्य सम्पन्न आत्मकामी लोगों का साधन रहा है। इधर भगवान शंकराचार्य ने निवृत्ति-कर्मों की वकालत जोरों से की है। मनुष्य को इन्द्रियों द्वारा अनुभूत जगत का नानात्व सत्य नहीं है। एक शुद्ध ब्रह्म और उसकी माया से मनुष्य की इन्द्रियों को भिन्नता का भास होता है। मनुष्य की आत्मा ही परब्रह्म रूप है। आत्मा और परब्रह्म की एकता का पूर्ण ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है। अतः सब कर्मों के त्याग के बिना उस शुद्ध ब्रह्म की पहचान सम्भव नहीं है। इसी को निवृत्ति मार्ग अथवा सर्व कर्मोंका त्याग करके ज्ञान में निमग्न ज्ञान-निष्ठा कहा गया है। गीता में निवृत्ति मार्ग को पुष्ट करने वाला भगवान का कथन—

सर्वं कर्माखिलं पार्थ,
ज्ञाने परिसमाप्यते।

अथवा—

यथैधांसि समिद्धोऽग्नि-
र्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि,
भस्मसात्कुरुते तथा॥

परन्तु भगवान श्रीकृष्ण साधारण मनुष्य को अचानक निवृत्ति मार्ग का अवलम्बन करने की आज्ञा देते नहीं दिखाई पड़ते हैं। कारण मात्र एक है कि विशुद्ध मनः स्थित न होने पर ऐसे लोग मात्र संन्यास का ढोंग ही करने वाले सिद्ध होंगे। मिथ्याचारी होकर आत्मानुसंधान सम्भव नहीं है। अतः कर्मों का त्याग न करके भी एक व्यक्ति स्वरूपाव-स्था कैसे प्राप्त कर सकता है? यही साधना विषय सामान्य संसारी लोगों के लिए स्वयं भगवान नारायण ने प्रह्लाद को निमित्त बनाकर व भगवान श्रीकृष्णने अर्जुनको निमित्त बनाकर अथवा उद्धव को निमित्त बनाकर उपदेशित किया है। इसे ही शास्त्रकार नारा-यणी धर्म व भागवत धर्म की संज्ञा देते आये हैं। इस धर्म-साधना में कर्म का त्याग कदापि नहीं करना है, अपितु फलेच्छा का त्याग अथवा फल को उन परम प्रभु के चरणों में समर्पित करते जाना है, इससे अनासक्त भाव

से कर्म करने का स्वभाव बन जायेगा। भागवत धर्म के उपदेश का सारांश श्रीमद्भागवत् के निम्न श्लोकों में देखें—

हन्त ते कथयिष्यामि,
मम धर्मान् सुमङ्गलान्।
यान्छ्रद्धयाऽऽचरन् मृर्त्यो,
जयति दुर्जयम् ॥
कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि,
मदर्थं शनकैः स्मरन्।
मय्यर्पितमनश्चित्तो,
मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥
देशान् पुण्यानाश्रयेत,
मद्भक्तैः साधुभिःश्रितान्।
देवासुरमनुष्येषु,
मद्भक्ताचरितानि च ॥
(श्रीमद्० अ० २९/८-९-१०)

अर्थात्—तुम्हें अब ऐसे धर्म का उपदेश करता हूं, जिसके आचरण से मनुष्य संसार रूप दुर्जय मृत्यु को अनायास ही जीत लेता है। अपने सारे कर्म (सर्व प्रवृत्तियाँ) मेरे लिए ही करो और करते समय मेरे स्मरण का अभ्यास बनालो। ऐसा करने से तुम्हारा मन और चित्त तथा आत्मा मेरे ही धर्मों में रम जायेंगे। सदैव ऐसे संग में रहो, जहाँ साधुजन निवास करते हों। उन लोगों के आचरणों का अनुकरण करो जो मेरे भक्त हैं।

इस अभ्यास से साधक में क्या परिवर्तन होगा तथा यह साधना कितना सर्वोत्कृष्ट है ? निम्न श्लोकों में देखें—

यावत् सर्वेषु भूतेषु,
मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनः
कायवृत्तिभिः ॥
सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य
विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत्
सर्वतो मुक्तसंशयः ॥
(श्रीमद्० १७-१८)

सर्व कार्यों को ईश्वर को समर्पित करते हुए अनन्य चिन्तन करने से समस्त प्राणियों में ईश भावना जागृत हो जायेगी। मन, वाणी और शरीर के सभी सङ्कल्पों और कर्मों द्वारा मेरी उपासना करना चाहिए। ऐसा करने से अल्पकाल में ही साधक को दिव्य-ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तथा उसे सब ब्रह्मस्वरूप दीखने लगता है। भगवान ने ईशत्व प्राप्तिके सब साधनों में इस साधन को श्रेष्ठ बताया है।

पातंजलि योग-दर्शन में उपरोक्त साधना का मर्म "वीतराग विषयं वा चित्तम्" सूत्र में दिया गया है। अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों को वीतराग पुरुष के मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार में पर्यावसन करना ही इस सूत्र-साधना का रहस्य है। इसी भागवत धर्म-कर्म का गीता के नवें अध्याय में जगद्गुरु श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया है। देखें—

यत्करोषि यदश्नासि,
यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय,
तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं,
मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

संन्यासयोगयुक्तात्मा,

विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

(गीता ९/२७-२८)

अर्थात्—तू जो करता है, जो खाता है, होम-हवन करता है, जो दान करता है, जो तप करता है वह मुझे अर्पण किया कर । इस प्रकार कर्म करके भी तू कर्मों के शुभ-अशुभ फल रूप बन्धनों से मुक्त होगा । अन्त में शुद्ध अन्तःकरण होकर मुक्त हो जायेगा । आगे जिस बात का स्पष्टीकरण श्री प्रभु ने किया है, वह हम सभी कलिमल ग्रसित लोगों के लिए अत्यन्त आशाजनक है । जैसा ऊपर हम कह चुके हैं कि निवृत्ति मार्ग अथवा कर्म-संन्यास सर्व साधारण के लिए है ही नहीं । उच्चाधिकारी ही इसमें सफल हो सकते हैं, परन्तु "कर्मफल न्यास की साधना को मन्दाधिकारी भी अपना सकता है । परिणाम दोनों का स्वरूपावस्था का ज्ञान ही है । इसी बात को प्रतिज्ञापूर्वक भगवान ने गीता में बताया है । देखें—

अपि चेत्सुदुराचारो,

भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः,

सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा,

शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

कौन्तेय प्रति जानीहि,

न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(गीता ९/३०-३१)

यदि बड़ा दुराचारी ही क्यों न हो, यदि उपर्युक्त वर्णित कर्मफल त्यागरूपी साधना का अवलम्बन लेकर मुझको अनन्य भाव से भजता है तो उसे साधु ही समझो । क्योंकि उसकी बुद्धि निश्चयात्मिका है । वह जल्द ही धर्मात्मा हो जाता है, नित्य शान्ति पाता है । भगवान चेताते हुए कहते हैं—हे अर्जुन ! इस बात को मन में गाँठ बाँध लें कि ऐसा कर्म-समर्पण वाला मेरा भक्त कभी भी नष्ट नहीं होता ।

उपरोक्त उद्धरणों एवं कथोपकथन से निवृत्ति और प्रवृत्ति से कैसे हम श्रेय (आत्म-कल्याण) की ओर बढ़ सकते हैं, निरूपण किया गया । अब हम यह विचारना चाहेंगे कि वह क्या उपाय है कि प्रेय जो वासनात्मक सुख है वही उत्तरोत्तर शुद्ध होकर हमें आत्म-कल्याण या श्रेय की ओर अग्रसर कर दे । भागवत धर्म का भी प्रयोजन यही है कि मन्दाधिकारी भी अपना आत्म-कल्याण संपादन कर सके, परन्तु अड़चन यह है कि अनन्य भाव भावित चिन्तन, सर्व कर्मफल त्यागरूप साधना बिना आस्तिक्य बुद्धि के सध भी नहीं सकता । क्योंकि कठोपनिषद् में नचिकेता ने प्रेय और श्रेय के भेद को भली प्रकार जानने के कारण ही यमराज द्वारा दिये प्रलोभनों से प्रभावित न होकर कहा था—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ,

सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते,

प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

(कठोप० १/२-२)

जब प्रेय और श्रेय अर्थात् तात्कालिक इन्द्रिय सुख तथा चिरकालिक कल्याण ये दोनों मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं, तब धीर मतिमान मनुष्य श्रेय को ही चुनता है । परन्तु मन्द बुद्धि वाला मनुष्य प्रेय को ही चुनता है । फिर बात जहाँ की तहाँ रह गई ।

साधारण मनुष्य प्रेय को ही अपनायेगा और भवाटवी में भटकता रहेगा जन्म-जन्मान्तर तक संस्कारों के भयावह उलझन में। नारायणी धर्म अथवा भागवत् कर्म जिसमें प्रेय से प्रेरित कर्मों को त्यागने का उपदेश नहीं है अपितु अभ्यास यह करना है कि जो सुख-दुःख प्राप्त हो रहा है वह भगवान की ही इच्छा है, इस प्रकार जब मनसा, वाचा, कर्मणा साधक अपने कर्मों के फलों को त्याग करना सीख जायेगा तब उसके अन्तःकरण में विशुद्ध सत्व, श्रद्धा, भक्तियोग का रूप धारण कर लेगा। ऐसे साधकों के लिए गीता में बार-बार भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य
मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो
मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

तू परमेश्वर प्राप्ति के सभी साधनों को छोड़कर मेरी ही शरण में आ। मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, डर मत। इतना उदार आश्वासन योग-योगेश्वर परमात्मा श्रीकृष्ण ने हम सभी को दे रक्खा है।

प्रथमतया भागवत् धर्म-कर्म अथवा गीतोक्त भक्तियोग सरल प्रतीत होता है। भगवान पतंजलि के "वीतराग विषयं वा चित्तम्" की भी वही बात है। अड़चन मात्र एक है कि सब पापों से मुक्त करने का वचन देने वाले के प्रति प्रगाढ़ अनन्य भावना का न होना। क्या मन्दाधिकारी में सहज ही यह अनन्य भावना अथवा कर्मफल त्यागरूप प्रारम्भिक साधना का आकर्षण होगा? आज के समाज में ऐसे कितने लोग हो सकेंगे? अतीत में हुये असंख्य भागवत् सन्तों के नाम और जीवन-परिवर्तन तो प्रमाण रूप है ही, जो तमाम सन्देहों का हनन कर पुष्टि करते हैं कि पापी से पापी भी भक्तियोग द्वारा कर्म-बन्धनों को काटकर मुक्त हुये हैं और हो सकते हैं।

प्रेय से श्रेय की उपलब्धि—

मनुष्य का मन स्वभावतः प्रत्यक्षग्राही है। हजार सत्य हो आत्म-कल्याण की बात, परन्तु सर्व साधारण का मन आत्यान्तिक सुख की जगह ऐन्द्रिक सुख जो तात्कालिक है, उसी को ग्रहण करना चाहता है। आँखों को सुन्दर रूप, कानों को मीठी सम्वेद्य वाणी अथवा संगीत, नासा सुगन्ध जिह्वा सुस्वाद, त्वचा अनुकूल स्पर्श की ओर बलात् मन को आकर्षण कर लेती है मन इन प्रेयों में ही आजीवन ही क्यों जन्म-जन्मान्तर भटकता रहता है। मनीषियों ने स्वानुभव से जाना है कि यह भटकाव तब तक है, जब तक मनुष्य अपने स्वरूप बोध को नहीं पा जाता। क्योंकि सब सुखों का समुद्र आत्मानन्द में ही है। प्रेयों में उपलब्ध सुख भी सम्वित् के ही संसर्ग का फल है। क्योंकि पदार्थ में स्वभावतः सुख नहीं है। जब तक मन बँधा रहता है अनुकूल सम्वेदनों से, तभी तक प्रेय से उत्पन्न सुख का बोध होता है। सुख का मूल कारण मन का एकाग्र होना ही है। जितने समय मन स्थिर होगा हम शान्ति-सुख का बोध करते हैं। उपरोक्त युक्तियों को ध्यान में रखकर भगवद्गीता में उल्लेखित निम्न श्लोक को विचारना है—

राजविद्या राजगुह्यं
पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं
सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

जगदात्मा अखिल लोक पावन भगवान

श्रीकृष्ण अर्जुन को तमाम ज्ञान निष्ठा, कर्म-निष्ठा, निष्काम कर्मयोग और भक्तियोग तथा अष्टांग योग की बातें बताते हैं। परन्तु इस श्लोक की बात ही कुछ और है, कहते हैं—यह साधन (भक्तियुक्त होकर अचिन्त्य सर्व शक्तिमान अव्यय, अव्यक्त परमात्मा को चिन्तन रूपमें व्यक्त रूपक (श्रीराम, श्रीकृष्ण, भगवान गणपति अथवा कोई वीतराग) ग्रहण कर उसी के तदर्थ सर्व कर्मों को करते जाना (कर्म फल का त्याग) सब विद्याओं में और गुह्यों में श्रेष्ठ है। अति उत्तम है, प्रत्यक्ष परिणाम वाला है (सो मन को प्रिय है), धर्मानुकूल तथा सुख से आचरण करने योग्य है। और स्पष्ट किया गया है निम्न श्लोक में—

यत्करोषि यदश्नासि
यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय
तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

जो कुछ तू करता है, खाता है, हवन करता है, देता है, तप करता है उसे मुझे अर्पण कर इससे तुम कर्म संस्कारों में बद्ध नहीं होगा। यही भाव भागवत के इस श्लोक में भी वर्णित है—

कायेन वाचा मनसेंद्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

ऐसा करने को उद्यत् साधक के लिए ही प्रभु कहते है—

तेषां नित्याभियुक्तानां
योगक्षेमं वहाम्यम्॥

अब राजगुह्य तथा प्रत्यक्षावगम के साथ सुसुखं को भी व्यवहारिक क्षेत्र में विश्लेषित करने पर ऐसा बोध होता है कि यह साधना रहस्य अत्यन्त गुह्य छिपा है) प्रकट कैसे होगा ? माध्यम जब स्वयं सद्गुरु नारायण के सन्मुख हों। जगद्गुरु श्रीकृष्ण ने तत्काल शक्तिपात से अर्जुन को अपने स्वरूप का बोध कराते हैं। भगवान वेदव्यासजी ने संजय पर यही कृपा की। अतः भागवत् धर्म प्रत्यक्ष है, और सुखकर है तथापि गुह्य है। इस पथ का मर्म बिना सिद्धानुकम्पा के सम्भव नहीं है। सद्गुरु स्वयं इस राजविद्या की ओर अपनी कृपा शक्ति से शिष्य को प्रतिष्ठित करते हैं और सतत् अनन्य भाव से व्यक्त (परन्तु अव्यक्त अचिन्तय सत्ता का) इस परमात्म सत्ता का चिन्तन करते हुये अपने सर्व लौकिक कर्मों को करने का उपदेश देते हैं। सद्गुरु की अनुग्रह-शक्ति से साधक में सुप्त कुण्डलनी-शक्ति जागृत होती है, जिससे आभ्यान्तर में बाह्य इन्द्रियों के उपयोग के ही अद्भुत् दृश्य, नाद, स्पर्श, गंध, स्वाद (अलौकिक) का स्फुरण होने लगता है। साधक का चिरन्तर से सुख के लिए भटकता मन इन सूक्ष्म शुद्ध प्रेयों के द्वारा तृप्त होने लगता है। चूंकि तन्मात्राओं का अनन्त और अलौकिक विस्तार है।

अतः नित्य ध्यानाभ्यासी इन प्रत्यक्ष अपार सुखरूपी ध्यान धर्म को धारण करने लगता है। मन उच्च से उच्चतर रूप के दायरे ज्योति निर्मित महासत्व में पहुंचकर निरुद्धता को प्राप्त सहज ही होने लगता है। नाद, स्वाद, गन्ध, स्पर्श की भी तन्मात्राएं अनन्त और अति विस्तार वाली है। इनकी भी अनुभव से मन सहज ही निरोध को प्राप्त होता है। सुप्त शक्तियोंके उदय से मनुष्य इन दिव्य सुखों के द्वारा ही एक दिन परम श्रेय स्वरूप बोध को पा जाता है। यही पथ है प्रेय से श्रेय की उपलब्धि का। परन्तु सूक्ष्म अहंकार

का अन्तराय मात्र उसी साधक को नहीं हो पाता है, जो अनन्य भाव से सद्गुरु शरणागति ग्रहण किये होते हैं। जिनके अन्दर शरणागति भावना नहीं होती, वे देवताओं के कोप तथा अन्य मानस विकारों के भाजन बन जाते हैं।

सद्गुरुकृपा से अथवा इष्टकृपा से स्पन्दित महाशक्ति कुण्डलनी जीव को इष्ट रूप में प्रतिष्ठित कराती है। यह महत् विज्ञान महाविद्या है, साक्षात् अनुभवकारी है, विस्मयकारी तथा सुखकारी है। यह व्यक्तसे अव्यक्त की ओर जानेका राजयोग है। सर्व साधारण जो अव्यक्त ईश्वर की ओर अपने मन को लगाने में समर्थ नहीं है, उनके लिए भगवान ने कहा है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषां,
अव्यक्तासक्त चेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं,
देहवद्भिरवाप्यते ॥

इस महाविद्या द्वारा ही समय-समय पर भारत-भूमि में महान पुरुषों द्वारा कार्य किया जाता रहा है। मुगलों के अत्याचार के समय श्री नामदेव, श्री ज्ञानदेव, सन्त तुकाराम, रूप, जीव गोस्वामी, मीरा, रैदास, दादू, गरीबदास अनेक भक्त सन्त हुए। इनकी साधना का रहस्य जैसाकि सन्त-चरित्रों में वर्णित करता आया हूँ यही राजयोग ही है। यह अत्यन्त सरल है पर है गुह्य, क्योंकि दाता के देने पर ही जीव इसे प्राप्त कर पाता है। पुराणों में राजाओं के चरित्र-वर्णन में यही देखने में आता है कि सर्व प्रवृत्तियों में रहकर भी वे अन्त में मोक्ष को प्राप्त हो जाते रहे। इस विद्याके भोगसे योग की ओर मनुष्य के मन का रूपान्तरण हो जाता है। भगवान पतंजलि के सूत्र—"अभिमतध्यानाद्वा" का अभिप्राय भी तभी सफल होता है, जब स्वयं सिद्ध सद्गुरुदेव शिष्य के अन्दर की आत्म-शक्ति कुण्डलिनी का जागरण कर दें। और तब सधता है सर्व कर्मों के साथ योग—"योगः कर्मसु कौशलम्" अथवा भगवान श्रीकृष्णजी का निम्न कथन ऐसे साधकों में चरितार्थ होगा।

संन्यासः कर्मयोगश्च,
निःश्रेयसकरा वुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्,
कर्मयोगो विशिष्यते ॥

संन्यास और कर्मयोग दोनों मोक्षदायक हैं, परन्तु कर्म संन्यास के सापेक्ष कर्मयोग ही विशिष्ट है।

—: वचनामृत :—

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान ।
रसरी आवत-जातते, सिल पर परत निसान ॥

× × ×

जो रहीम मन हाथ है, मनसा कहुँ किन जाय ।
जल में ज्यों छाया परै, काया भीजत नाय ॥

यौगिक षट्कर्म

● श्री चन्द्रप्रकाश वर्मा

यौगिक साधनों में षट्कर्मों का बहुत महत्त्व है। षट्कर्मों के अभ्यास से शरीर के अन्दर के सभी दोष, सारे विकार और व्यर्थ के मल (फुजला) दूर हो जाते हैं। षट्कर्म को योगमार्ग की प्रथम सीढ़ी कहा जा सकता है। योगशास्त्र में षट्कर्म इस प्रकार बताये गये हैं--

धौतिर्बस्तिस्तथा नेति-
त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि,
षट्कर्माणि समाचरेत् ॥

षट्कर्म क्रमशः ये हैं—(१) नेति, (२) धौति, (३) वस्ति, (४) नौलि, (५) कपालभाति, (६) त्राटक।

षट्कर्मों के अभ्यास से किसी प्रकार की बीमारी होगी ही नहीं। यदि कोई बीमारी हो जाय तो षट्कर्मों द्वारा उसका उपचार किया जा सकता है। शरीरमें विजातीय द्रव्य अधिक जमा रहने से नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं। जिस प्रकार झाड़ू से घर की सफाई की जाती है, उसी प्रकार षट्कर्मों से शरीर के भीतरी विकारों की सफाई हो जाती है। इसके साथ ही शरीर से सभी रोग भी बाहर हो जाते हैं। यही कारण है कि षट्कर्मों को कायाकल्प की क्रियाएँ भी कहा जाता है। यदि इनका नियमपूर्वक अभ्यास किया जाय, तो यौवन दीर्घकाल तक बना रह सकता है। षट्कर्मों द्वारा नासिका, आमाशय (मेदा), अन्त्र (अन्तड़ियाँ), पक्वाशय, यकृत (जिगर), श्वास-प्रदेश (फेफड़े आदि) की शुद्धि की जाती है। षट्कर्मों का अभ्यास प्रातःकाल कुछ खाने-पीने से पहले ही करना चाहिए। जो परम शुद्ध है वही परमेश्वर है। यह शरीर परमात्मा का मन्दिर माना जाता है, इसे अशुद्ध रखकर परमात्मा को खुश कैसे कर सकते हैं। परमात्मा की प्राप्ति के लिए हमें भी बहुत कुछ परमात्मा जैसा ही शुद्ध होना पड़ेगा। आन्तरिक शुद्धि के लिए यौगिक षट्कर्म करना आवश्यक है। नेति, धौति, वस्ति, नौलि करने से शरीर की आन्तरिक शुद्धि होती है और त्राटक, कपालभाति करने से मन की शुद्धि होती है। इन क्रियाओं के नियमित अभ्यास से शरीर सुकान्त, देदीप्यमान, आभा-मण्डित बनता है। शरीर रोग-मुक्त होता है, मनमें योगकी ऊँची सीढ़ियों पर चढ़ने का उल्लास बढ़ता है, मन की चंचलता समाप्त होती है। षट्कर्म क्रियाओं द्वारा शरीर ईश्वर का मन्दिर बन जाता है।

(१) नेति का चमत्कार

आज विज्ञान के युग में भी भारतीय ऋषि-मुनियों की अतिशय प्राचीन अनुभव सिद्ध क्रियाओं की खोज ने विज्ञान को पछाड़ दिया है। ये हैं सस्ती और अचूक। षट्कर्मों में नेति का अपना एक जादू भरा प्रभाव हमारे तन-मन पर पड़ता है। अनेक रोग नेति से ठीक होते हैं।

नेति क्या है?—नेति हठयोग की षट्कर्म

शुद्धि की वह क्रिया है, जिससे मस्तिष्क से लेकर कण्ठ तक की समस्त नाड़ियों को शुद्ध करने के लिए लगभग एक फुट लम्बी सूत की डोरी को नाक में डालकर मुँह से निकाला जाता है। उसके बाद टोंटीदार लोटेमें शीत-उष्ण जल को एक नासिका छिद्र में डालकर दूसरे नासिका-छिद्र में से निकालने को जल-नेति कहते हैं।

नेति की आवश्यकता और कार्य—आमाशय की गर्मी के परमाणु मस्तिष्क की ओर उठकर छोटी जिह्वा (काग) को नीचे लटका देते हैं। यह रस (नजला) मस्तिष्क में रुककर स्मरण शक्तिको घटाता है। नेत्र-ज्योति क्षीण होती है, बहरापन बढ़ता है, दांत हिलने लगते हैं। गले में रुकने से टाँसिल, खांसी, दमा, कण्ठमाला आदि रोगों का जन्म होता है। यह गन्दा रस पेट में जाने से अनेक रोगों को बढ़ाता है।

सूत्र नेति—नाड़ियों पर अपना दबाव डालता है। उपर्युक्त रोगों को रोकने से मस्तिष्क की सभी नाड़ियों को शुद्ध करने के लिए नेति जादूका काम करती है। नेत्र रोगों में तो यह रामबाण है। यदि शरीर में मल न हो तो रोग हो ही नहीं सकता। कन्धे के ऊपरी भाग में सूत्र नेति झाड़ू की तरह सफाई का काम करती है। नेति कपाल को शुद्ध करती है, नासिका व कण्ठ के मल को निकालती है- जुकाम नहीं होने देती, सिर-पीड़ा दूर करती है, दृष्टि को बढ़ाती है। नेति से इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना में जिनका उद्‌गम सिर में है, अमृत-रस टपकता है, जिससे सारे शरीर को शक्ति मिलती है।

सूत्र नेति करने की विधि—यह नेति प्रत्येक व्यक्ति के नासाछिद्र के अनुसार पतली या मोटी बनाई जाती है। नेति इतनी कड़ी हो कि यदि बीच से पकड़े तो ऊपर सीधी खड़ी हो जाय। पहली रात को सोने से पहले नाक में घी, तेल या बादामरोगन की कुछ बूँदें ड्राँपर से डालें। यदि रातमें ऐसा न कर सकें तो १५ मिनट पहले करें। सूत्र नेति को पानी में भिगो लें, उकड़ूँ बैठकर कमर सीधी करके, थोड़ी गर्दन नीचे करके बांये हाथ को ऊपर तथा दांये हाथ को नीचे रखें। बांये हाथ का अँगूठा व तर्जनी दाये हाथ अँगूठा व उनके साथ की दोनों उँगलियों का प्रयोग करें। श्वांस जिस छिद्र से चल रहा हो उस ओर पहले करें। कण्ठ में जैसे नेति पहुंचती है, काग से टकराती है तो उबकाई-सी आती है। उस समय दांये हाथकी तर्जनी व मध्यमा को मुँह के अन्दर डालकर नेति को पकड़कर धीरे-धीरे पाँच-सात बार अन्दर-बाहर खींचे तथा फिर मुँह के रास्ते सूत्र नेति को धीरे-धीरे बाहर निकालें ताकि रगड़ न लगे। जब नेति पूरी तरह बाहर आ जाय तो उसमें लगे मल कफ को धो करके दूसरे नासाछिद्र में डालें। नेति नियमित करना ठीक है। सूत्र-नेति के बाद जल नेति अवश्य करें।

जल नेति—अपनी ठण्डी-गर्म प्रकृति के अनुसार जल लेना चाहिए। ठण्डी प्रकृति वालों को साधारण जल और गर्म प्रकृति वालों को ताजा जल नमक डालकर तथा छानकर प्रयोग करना चाहिए।

विधि—दोनों नाकों से एक-एक लोटा जल निकालना चाहिए। धार बँध जाय तभी उसे सफल समझें।

लाभ—(१) जुकाम व नजलेकी शिकायत २-४ दिन क्रिया करने से ठीक हो जाती है।

(२) दाँतों के रोग (पायरिया आदि) में हितकर है।

(३) कर्ण रोग में नासिका से जलपान कर गले से निकालने से लाभ होता है।

(४) प्रातःकाल इन क्रियाओं को करने से आँखों से खुजली, पानी बहना तथा नेत्र-ज्योति ठीक होती है।

(५) पुराना जुकाम, गले पड़ना, गला बैठना, खांसी, शरीर का दुबलापन, बालों का सफेद हो जाना, मुँह पर झुर्रियाँ पड़ना, बुढ़ापे के कारण होने वाली दुर्बलता आदि रोग ठीक होते हैं।

(६) सिर दर्द जादूकी तरह दूर होता है।

(७) नींद अच्छी आती है।

(८) अटक-अटककर बोलना ठीक होता है।

दुग्ध नेति—शारीरिक, मानसिक और आत्मिक रोगों के उपचार के लिए हमारे ऋषियों ने दूध को नासिका द्वारा पीने का विश्वस्त: हितकारी एवं सस्ता साधन खोज निकाला है। गाय का दूध मस्तिष्क के लिए उत्तम है। मूत्र व जल नेति के बाद जलपान की भाँति नाकसे टोंटीदार लोटे से सुहाना-सा गर्म दूध जितना धारोष्ण दूध होता है, पीना चाहिए। सौ मिलीग्राम दूध एक किलो दूध पीने के बराबर काम करता है। दुग्ध नेति बराबर लाभ पहुँचाती है। सारा दूध पेट में ही नहीं चला जाता, दूध का कुछ अमृत तत्व उस केन्द्रीय स्थान में एकत्रित हो जाता है। वहाँ से वह शक्ति के रूप में शरीर के प्रत्येक अंग में पहुँचता रहता है। रोग दूर होकर शरीर पुष्ट हो जाता है। महर्षि लोलमराज का मत है—यदि सिर में सुलके समान पीड़ा हो रही हो तो नासिका द्वारा दूध पीने से लाभ होगा। इसके अतिरिक्त परम चिन्तन-शक्ति बढ़ जायेगी यह मेरा अनुभव है। दुग्ध नेति से मस्तिष्क की थकावट तथा गर्मी, दुर्बलता एवं परेशानी तुरन्त दूर हो जाती है। रक्त-चाप व हृदय-गति को रोकने वाले रोग शीघ्र ठीक हो जाते हैं। मल विसर्जन ठीक होता है। ध्यान रहे कि एकदम सारा दूध नहीं पीना चाहिए। दूध इस तरह पीवे कि आक्सीजन अधिक से अधिक अन्दर जाय, जिससे पिया हुआ दूध पचकर अमृत-तुल्य बन जाय। वायु प्रकृति वाले दूध में सोंठ पकाकर, छानकर नाक से पीवें।

घृत नेति—घी को तपाकर ठण्डा करके नाकसे २-४ बूँद टपकाकर खींचनेसे मस्तिष्क की खुश्की दूर होती है।

औषधियुक्त नेतियाँ—दुग्ध नेति, घृत नेति बादाम नेति का आधुनिक युगमें बहुत प्रभाव देखा गया है। सामान्यतः मामूली सोंठ का चूर्ण गौ-घृत में डालकर नित्य ड्रापर से प्रातः सायं डाला जाता है, बादाम-रोगन तो हर मौसम में अच्छा है। इससे मस्तिष्क को बल मिलता है, बाल काले बने रहते हैं, अनिद्रा का रोग दूर होता है, सिर दर्द समाप्त होता है, नसें बलवती होती हैं, शरीर में चुस्ती रहती है, चिड़चिड़ापन दूर होता है।

(२) धौति क्रिया

धौति का मतलब है धोना—पेटको धोना, आँत को धोना, अन्नवाही नलिका को धोना, पित्ताशय को धोना, पित्तको धोना, मलाशय को धोना।

वस्त्र धौति—चार अंगुल चौड़े और पन्द्रह हाथ लम्बे महीन वस्त्र को गर्म जल में भिगोकर धीरे-धीरे ग्रसना चाहिए। उसका नियम यह है कि पहले दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ, इस प्रकार नित्य प्रति एक-एक हाथ बढ़ाता हुआ ग्रसने का अभ्यास करें। उस वस्त्र के छोर

को दाढ़ों में दृढ़ता से दबाकर नौली कर्म के द्वारा पेट में टिके हुए वस्त्र को भली प्रकार चलाने के पश्चात् बाहर निकालें, यही धौति कर्म कहलाता है।

लाभ—शरीर में हल्कापन मालूम पड़ने लगता है, शक्ति मालूम पड़ने लगती है, सड़ा हुआ पित्त, पेट की दीवारों का आंव तथा चिपका कफ भी उस कपड़े में सोखकर आ जाता है। पेटकी सिकाई हो जाती है, खांसी, दमा, राज्यक्षमा, मन्दाग्नि, कब्ज, कंठमाला आदि रोग दूर होते हैं।

कुन्जल क्रिया—वस्त्र धौति के बाद कुन्जल करने से पेट की पूर्ण सफाई हो जाती है।

विधि—सहने योग्य गर्म जल साफ वस्त्र से छानकर ऊपर रख लीजिए। सर्व प्रथम कागासन में बैठकर दोनों कोहनियाँ घुटनों के ऊपर रखिये, फिर गिलास द्वारा पानी पीना आरंभ करें। तब तक पीते जायँ, जब तक पेट पूर्ण न भर जाय अथवा पानी पीते-पीते उल्टी की इच्छा न होने लगे। जल पीने के उपरान्त दोनों पैर आपस में मिलाकर इस प्रकार खड़े हो जायें कि नाभि पर ९० डिग्री (९० अंश) का कोण बन जाय। बांये हाथ को पेट के ऊपर रखिये और तर्जनी (अंगूठे के साथ वाली उंगली), मध्यमा, अनामिका तीनों को मिलाकर मुँह के अन्दर ले जाइये, जहाँ दूसरी जीभ अर्थात् कौआ है। छोटी जीभ पर तीनों उँगलियों को कोमलता से फिराइये। जब जल बाहर निकलने लगे तो तुरन्त बाहर निकाल लें। धार बांधकर जल बाहर निकलते रहें। जब जल निकलना रुक जाय तो फिर तीनों उँगलियाँ मुँह में ले जाकर छोटी जीभ पर धीरे-धीरे कोमलता से घुमाएँ। जब जल बाहर निकलने लगे तो तुरन्त उँगलियाँ मुँह से बाहर निकाल लें। बार-बार यही क्रिया करें, जब तक सारा जल आमाशय से बाहर न निकल आये। अन्त में जब खट्टा अथवा कड़वा पानी निकले तो फिर एक गिलास गर्म पानी पीकर उसे निकालें।

सावधान—कुन्जल करते हुए शरीर को ज्यादा ऊपर-नीचे न हिलाइये। सीधे खड़े होकर पानी बाहर निकालने की क्रिया न करें, क्योंकि इससे हानि होती है। ९० अंश का कोण बनाना आवश्यक है। अस्वस्थ पेट सभी रोगों की जड़ है। कुन्जल सरल और शीघ्र लाभ देने वाली उपयोगी क्रिया है। जिस प्रकार मशीन से दीर्घकालीन सेवा लेने के लिए उसमें ग्रीस दी जाती है, उसकी सर्विस कराई जाती है। उसी प्रकार हमारा शरीर भी एक मशीन है। इसका मूल आधार पेट है। पेट ठीक रखने व सन्तुलित बनाये रखनेके लिए कुन्जल अद्भुत क्रिया है।

लाभ—(१) आमाशय के अनावश्यक तत्वों व स्रावों को बाहर निकालने में मदद मिलती है।

(२) कफ और पित्तके सन्तुलन को बनाये रखती है।

(३) फोड़े, फुन्सी तथा त्वचा के रोग दूर होते हैं।

(४) इस क्रिया से हृदय और श्वसननली को ताकत मिलती है।

(५) अपच, कब्ज, पित्त, कफ, गैसके रोग दाँत तथा टॉसिल के रोगों में रामबाण का काम करती है।

(६) गुर्दे व यकृत के कार्य को ठीक ढंग से करने में सहायक है।

(७) अस्वस्थ आमाशय, मधुमेह, गठिया, दमा आदि रोगोंमें यह उपयोगी सिद्ध हुई है।

(८) मुँह में छाले, सांस में बदबू, पसीने में दुर्गन्ध जैसे रोग भागते नजर आते हैं।

(९) अति निद्रा, सुस्ती आदि रोगों को दूर करके चुस्ती को प्रदान करती है।

(३) जीवन-प्रकाशिनी नौलि-क्रिया

स्थिति—दोनों पांवों के मध्य में एक या डेढ़ फुट की दूरी रखकर दोनों हाथों को घुटने पर रखकर खड़े हो जायें।

क्रिया—अन्दर की श्वांस बाहर निकालें तथा बाह्य कुम्भक करके पेट को पूरी तरह चिपकायें। इसके पश्चात् हाथ पर दबाव देकर पेट को ढीला करने के साथ-साथ सीने की ओर कुछ खिंचाव देते हुए नल निकालने का प्रयत्न करें। इसके बाद शनैः शनैः श्वांस को बाहर छोड़ें। बार-बार ऐसा करने पर किसी तरह आप ही नल बाहर निकल आयेगा। किन्तु इस क्रिया को करते हुए पेट की तरफ देखें कि नल निकलता है या नहीं। हर रोज १५ मिनट अभ्यास करने से नल जरूर निकलने लगेगा।

वाम नौलि—जब नल आये तो बांये हाथ पर दबाव दें, तब नौलि बांई ओर आ जायेगी।

दक्षिण नौलि—जब नल निकलने के बाद दांये हाथ पर जोर दें तब नौलि दांई ओर आ जायेगी।

नौलि घुमाना—बांए हाथ पर बल लगायें, नौलि बांई तरफ आ जायगी। अब दांए हाथ पर बल लगायें नौलि दांई तरफ आ जायगी। इस क्रिया को शनैः शनैः करें, इसे ही नौलि घुमाना कहते हैं। अपने कन्धे को नीचा करके योगी जब अपने पेट को दांई व बांई ओर बहुत तीव्र जल के भँवर के समान वेग से घुमाता है तो इस कर्म को सिद्धों ने नौलि-क्रिया कहा है। जठराग्नि जब मंद पड़ जाती है तब वात, पित्त व कफ तीनों प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। दमा, मूत्र-यन्त्र के विभिन्न रोग गैस, रक्त-चाप आदि रोगों का मुख्य कारण कब्ज है। प्रतिदिन नौलि के एक मिनट का अभ्यास करने वाला व्यक्ति बीमार नहीं हो सकता, क्योंकि नौलि मन्द पड़ी हुई पेट की अग्नि को दीप्त करती है और भोजन किये हुए अन्न को पचाती है। कब्ज को दूर करके वात, पित्त, कफ के रोगों को सुखाने वाली है, इसलिए यह नौलि हठयोग की क्रियाओं में सबसे उत्तम है। नौलि क्रिया के द्वारा विष तक निकाला जा सकता है। इतिहास में इसके प्रमाण है कि योगियों को जब भी विष दिया गया तो उन्होंने इस यौगिक क्रिया के द्वारा विष को भी बाहर निकाल दिया।

लाभ—इस क्रिया से आंतों में चिपका हुआ मल उखड़ता है। कब्ज दूर होती है। मंदाग्नि दूर हो जाती है। लीवर, प्लीहा व क्लोम ग्रन्थियाँ प्रभावित होती हैं। वात पित्त कफ-जनित विकार दूर हो जाते हैं। जठराग्नि के प्रबल होने से भूख लगती है पाचन शक्ति बढ़ जाती है, शरीर स्वस्थ एवं मन प्रसन्न रहने लगता है। धौति कर्म, वस्ति कर्म, कुन्जल और शङ्ख प्रक्षालन आदि कर्म नौलि के बिना अधूरे ही रह जाते है। वज्रोली तो बिना नौलि जाने ठीक हो ही नहीं सकती। रोग रहित हल्का-फुल्का लचीला दोष रहित शरीर चिन्तनशील मन वाला अपने काम में कुशल, प्रसन्नतायुक्त व्यक्ति ही स्वरूप कहलाता है। अतः योगाभ्यासी को चाहिए कि वह अन्य यौगिक क्रियाओं के साथ-साथ नौलि क्रिया का नित्य प्रति अभ्यास अवश्य करें।

सावधानियाँ—छः माह के बीच पेट के

आपरेशन में और गर्भवती स्त्रियाँ नौलि न करें। अलसर, दमा, ब्लडप्रेशर, हार्टट्रबल, सिर चकराने वाले रोगियों को भी यह क्रिया नहीं करनी चाहिए। आंतों में सूजन हो, संग्रहणीय रोग हो तो भी नौलि नहीं करनी चाहिए। नौलि का अभ्यास करने वालों को अपने भोजन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। उन्हें हल्का फुल्का, सुपाच्य आहार ही लेना चाहिए, विशेषतः दलिया और खिचड़ी ही खानी चाहिए।

(४) बस्ति क्रिया

जिसका नया नाम एनिमा है। ऋषि-मुनियों के समय में जबकि एनिमा लेने का यन्त्र न था, तब बस्ति क्रिया द्वारा जल गुदा के मार्ग से अन्दर खींचा जाता था जिससे मलाशयकी सफाई हो जाती थी। बस्ति क्रिया इस प्रकार की जाती है—आधा इंच मोटी बांस की नली को ५-७ सेन्टीमीटर गुदा के मार्ग से अन्दर करके किसी नदी तालाब या किसी टब या हौज में बैठकर लम्बा गहरा श्वांस भरते हुए गुदा को ऊपर की ओर संकोचन करना होता है जैसा अश्वनी मुद्रा में करते हैं। ऐसा बार-बार करने से बांस की नली द्वारा पानी बड़ी आंत में भरने लगता है। आवश्यकतानुसार पानी को बड़ी आंत में लेकर थोड़ी देर रोकने के बाद शौच द्वारा मल निकाल दिया जाता है। परन्तु आज बस्ति का स्थान एनिमाने ले लिया है। एनिमा यन्त्र द्वारा बड़ी सुविधापूर्वक जल को गुदा द्वार से बड़ी आंत में चढ़ाकर मल की सफाई की जाती है। धौति और बस्ति दोनों ही कर्म भोजन से पहले ही करना चाहिए तथा इन कर्मों को करने के तुरन्त बाद भोजन कर लेना चाहिए। इससे काया रोग रहित रहती है। बस्ति कर्म के द्वारा उदर के सम्पूर्ण रोग भी इससे नष्ट हो जाते हैं। गुल्म, प्लीहा, यकृत अन्त्र के रोग, मन्दाग्नि कब्ज, बदहजमी, बवासीर, भगन्दर, फोड़े आंत की गर्मी आदि दूर होते हैं आँख आना सिर दिमाग की कमजोरी, पागलपन, स्मरण-शक्ति की कमी, बालों का पकना, झड़ना बन्द हो जाता है, चेहरा कान्तिमान होता है एवं चित्त की प्रसन्नता बढ़ जाती है। एनिमा से क्या होता है—मुख से गुदा द्वार तक का भाग पाचन संस्थान कहलाता है। जो कुछ भी खाते हैं उसके पचने के बाद जो फोक बचता है उसे मल कहते हैं जो गुदा के पास मलाशय में जमा होता है। साधारणतया उसे नियमित रूप से दिन में एक बार या दो बार गुदा द्वार से बाहर हो जाना चाहिए। मल-प्रतिदिन न निकलने के कारण अन्दर सड़ने लगता है, गैस बनती है जो रक्त को दूषित कर देती है और कई रोग शरीर में अपना स्थान बना लेते हैं। इसका सबसे अच्छा उप-चार एनिमा द्वारा बड़ी आंत की सफाई करना है दवाई लेकर पेट साफ करने के स्थान पर एनीमे से पेट साफ करना निर्दोष भी है और स्वास्थ्यवर्द्धक भी है।

(५) कपाल-भाति

कपाल का अर्थ है मस्तिष्क और भाति का अर्थ चमक। इस क्रिया से कपाल अर्थात् मस्तिष्क की शुद्धि होती है। उसमें एकत्रित मल और विकार का धुआँ दूर हो जाता है और कपाल शाणे की भांति स्वच्छ हो जाता है, इसलिए इसे कपाल भाति कहते हैं।

विधि—कपाल भाति एक प्रकार का प्राणायाम है। जैसे लोहार अपनी धोंकनी से धोंकता है, उसी प्रकार कपाल को धोंकना। कपाल भाति करते समय पद्मासन, सुखासन या सिद्धासन, जिसमें साधक को सुविधा से

बैठना चाहिए। दोनों हाथ घुटनों पर रखकर बिल्कुल सीधे बैठना चाहिए। ध्यान रहे कि रीढ़ की हड्डी बिल्कुल सीधी रहे, नेत्र और मुख बन्द रखें। इस प्रकार बैठने के पश्चात् दो-चार लम्बे व गहरे श्वांस भरे और छोड़, ऐसा करने से आपके श्वांस की गति सामान्य हो जायगी। अब नासिका के दोनों छिद्रों द्वारा जोर से धक्का देकर श्वांस को बाहर फेंकें। बाहर फेंकने (रेचक) के बाद (पूरक) सांस भरने का प्रयास न करें, पूरक अपने-आप हो जायेगा। आरम्भ में थोड़ा धीरे-धीरे रेचक करें। चार-पाँच रेचक के बाद गति बढ़ाकर जल्दी-जल्दी करते हुए जोर-जोर से श्वांस को बाहर फकें। ध्यान केवल श्वांस को धक्के के साथ बाहर फेंकने पर ही होना चाहिए। हर दो रेचकके बीच पूरक तो अपने आप ही हो जावेगा। रेचक करते समय पेट झटकेसे अन्दर जाना चाहिए। ध्यान श्वांस के बाहर फेंकने की क्रिया पर ही होना चाहिए। प्रारम्भ में शक्ति के अनुसार २०-२५ बार ही रेचक करना चाहिए। अच्छा अभ्यास हो जाने पर रेचकों की संख्या बढ़ा सकते हैं। अगर १०८ बार रेचक किया जाय तो बहुत लाभ होता है। कपाल-भाति करते समय साधक के कन्धे नहीं हिलने चाहिए, नित्य-प्रति आप आसानी से ४-५ रेचकों की संख्या बढ़ा सकते हैं।

लाभ—यहकपाल-भाति बहुत गुणकारी प्राणायाम है। इसके अभ्यास से कपाल अर्थात् मस्तिष्क की नस नाड़ियों की शुद्धि होती है। तीव्र गति से श्वांस को बाहर फेंकने से मस्तिष्क की गन्दी वायु बाहर निकल जाती है और मस्तिष्क में हल्कापन आता है। मस्तिष्क का तनाव दूर हो जाता है। जब कभी आपके सिर में दर्द हो, मस्तिष्क में तनाव महसूस हो, आप कपाल-भाति का अभ्यास करें। इससे प्राण अर्थात् श्वांस बहुत मजबूत हो जाते हैं। दमे के रोगियों के लिए बहुत ही लाभकारी है। मस्तिष्क के गर्द-गुबार के साफ होने से स्मरण शक्ति बढ़ाने के लिए इससे बढ़कर और कोई साधन नहीं है। अनेक लोगों ने आध घण्टे अभ्यास से अपनी स्मरण शक्ति बढ़ा ली है। विद्यार्थियों को इसे अवश्य करना चाहिए। जो विषय घण्टों याद करने पर भी भूल जाता है वह पांच मिनट में याद हो जाता है। कपाल में गर्द-गुबार कहाँ से आया। अहंकार, अपमान, क्रोध, चिन्ता, निराशा, कुन्ठा, भय, घबराहट आदि के कारण मलीन रहता है। इन सब का धुँआ अपने आप वहाँ जमता रहता है। इसके निकालने का बाहरी साधन केवल कपाल-भाति है। इसके अभ्यास से पेट घट जाता है, पाचन-शक्ति बढ़ जाती है, कफ बाहर निकल आता है और फेफड़े शुद्ध हो जाते हैं। नासिका द्वार में जमा मल बाहर निकल आता है और नासिका द्वार साफ हो जाता है। कपाल-भाति सबसे पहले किया जाता है। कारण यह है कि यह श्वांस नलिका को शुद्ध करता है। श्वांस नलिकाके शुद्ध होने के बाद ही अन्य अन्य प्राणायाम किए जाने चाहिए।

(६) त्राटक

त्राटक कर्मयोग साधना में एक उच्च-कोटि का उपाय है। इसके अभ्यास से साधक को दिव्य दृष्टि ही प्राप्त नहीं होती, दिव्य-शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है। त्राटक सिद्ध योगी जिसकी ओर आँख उठाकर प्रेम-पूर्वक देखे वही वश में हो सकता है। किन्तु किसी को क्रोध पूर्वक देखे तो उसका अनिष्ट भी सम्भावित है। इसके द्वारा आँख और

मन के विकारों की शुद्धि की जाती है। आँख की ज्योति बढ़ाने में भी यह क्रिया बड़ी उपयोगी है। अनिद्रा, चिन्ता और स्नायु रोगों को दूर करने में भी त्राटक बड़ा ही कारगर साबित होता है। चित्त को एकाग्र करने में बड़ा ही लाभदायक है। हमारे मस्तिष्क की कई सुप्त शक्तियों को यह जाग्रत करता है।

विधि—त्राटक का अर्थ है किसी वस्तु विशेष पर टकटकी लगाकर अपलक दृष्टि से देखना। त्राटक का अभ्यास किसी स्थिर आसन जैसे पद्मासन या सिद्धासन में करना चाहिए। अगर शरीर स्थिर न होगा और हिलेगा तो उसके साथ आँखें भी हिलेंगी, आँखें हिलेंगी तो मन भी हिलेगा। धारणा न लगेगी। आँख और मन का गहरा सम्बन्ध है। आँखों को मन का दर्पण कहा जाता है।

त्राटक के भेद—त्राटक दो प्रकार का होता है। बाह्य त्राटक और अन्तर्त्राटक बाह्य त्राटक में किसी बाहरी वस्तु पर नेत्र गोलक स्थिर किया जाता है। अन्तः त्राटक में आँखें बन्द कर किसी सूक्ष्म आन्तरिक वस्तु पर धारणा की जाती है।

बाह्य त्राटक—बाह्य त्राटक के लिए निम्न में से किसी भी वस्तु को जो आपको रुचिकर लगे तथा जिसमें आपकी एकाग्रता बढ़े, चुना जा सकता है :

(१) मोमबत्ती की लौ या दीप-शिखा,

(२) कोई काली छोटी वस्तु,

(३) नासाग्र या नाक की नोक,

(४) भ्रूमध्य यानी दोनों भौंहों के मध्य जहाँ टीका लगाते हैं,

(५) खुला नीला बादल रहित आकाश,

(६) गहरा अन्धकार और शून्यता,

(७) आईना या दर्पण में अपनी तस्वीर,

(८) तारे, (९) चित्र आदि।

मोमबत्ती की लौ दीपशिखा—प्रारम्भ में मोमबत्ती की लौ या दीप-शिखा पर अभ्यास करना कई कारणों से श्रेयस्कर है। अभ्यास सूर्योदय के पूर्व और सूर्यास्त के बाद करना चाहिए। त्राटक के लिए चार बातें आवश्यक हैं :

(१) नेत्र गोलक स्थिर हो,

(२) पलकें झपकें नहीं,

(३) जिस वस्तु पर त्राटक साधना की जा रही हो उसके अतिरिक्त कुछ और न देखें,

(४) न केवल आँखें बल्कि मन भी उस वस्तु में रम जाय, इधर-उधर न भटके।

त्राटक करते समय तीन बातों पर ध्यान रखें—वस्तु, दूरी और समय। वस्तु, जिस पर त्राटक साधना की जा रही है, छोटी और स्पष्ट होनी चाहिए। उसकी दूरी आँख से दो होनी चाहिए, आँख की सीध में अभ्यास का समय धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए, आधा मिनट से शुरू करके कई मिनट तक।

बाह्य त्राटक का अभ्यास—मोमबत्ती को अपने सामने दो फुट की दूरी पर आँख की सीध में रख लें स्थिर आसन, सिद्ध या पद्मासन में बैठ जाएँ। रीढ़ की हड्डी सीधी, कमर गर्दन और सिर एक लाइन में। अब मोमबत्ती जलाएँ और दो मिनट के लिए आँख बन्द कर अपने सारे शरीर, सिर से पैर तक की स्थिरता का अनुभव करें। अब आँखें पूरी तरह खोल लें और बिना पलक झपकाये अपलक दृष्टि से लौ पर देखना शुरू करें। दृष्टि लौ पर लगे और कहीं नहीं। पुतलियाँ भी स्थिर हों, सहज भाव से देखें जैसे आप लौ में डूबते जा रहे। आँखें बन्द न करें और पलक न झपकाएँ, मनको भी लौ पर लगायें। शुरू में इसका अभ्यास एक या दो मिनट कर

धीरे-धीरे बढ़ायें। अब आँखें बन्द करले और मोमबत्ती की लौ को मनकी आंखोंसे भ्रूमध्य में देखें, मन को उस पर स्थिर करें। यह क्रिया तब तक करते रहें, जब तक ज्योति की तस्वीर भ्रूमध्य में स्पष्ट दिखाई पड़ती रहे। आँखें खोल लें और लौ को बिना पलक झपकाये देखना शुरू करें जैसे शुरू में किया था, अपने सामने केवल लौ ही लौ है और कुछ नहीं। यह अभ्यास तीन मिनट तक या जब तक आप सुगमता से कर सकें। उसके बाद आँखें बन्द करलें और फिर लौ की तस्वीर को भ्रूमध्य में मनकी आँखोंसे देखना शुरू करें। यह अभ्यास तब तक जारी रखें, जब तक चित्र सुस्पष्ट दिखाई पड़ता रहे तथा जब तक आसानी से कर सकें।

अन्तर त्राटक का अभ्यास—अन्तर त्राटक एक मानसिक अभ्यास है। इसके लिए शरीर स्थिर और मन शान्त होना आवश्यक है, पूरे शरीर को स्थिर करें। रीढ़ की हड्डी, कमर, गर्दन और सिर सीधा और एक रेखा में, आँखें बन्द। अब मानसिक रूप से अपनी मांसपेशियों और शरीर के जोड़ों को ढीला करें, अपनी सजगता को सारे शरीरमें फैलने दें। तनावयुक्त रखते हुए सारे शरीर को निश्चल और स्थिर रखें। धीरे-धीरे शरीर में हल्कापन का अनुभव करें। अब ध्यान को सांस पर ले जाएं और उसे अन्दर-बाहर, आते-जाते साक्षी रूप में देखें। शनैः-शनैः अनुभव करें कि श्वांस की गति धीमीसे धीमी होती जा रही है मानो रुक-सी गई है। अपनी चेतना को भ्रूमध्य में केन्द्रित करें और हो सके तो वहाँ एक छोटे चमकते तारे को मन की आंखों से देखें। अगर तारा न दिखाई पड़े तो कल्पना करें कि वहाँ तारा है। आज नहीं तो कल, नहीं तो परसों तारा दिखाई पड़ेगा। न दिखाई पड़े तो कल्पना में देखें, अनन्त आकाश में एक छोटा-सा तारा टिम-टिमाता हुआ। लम्बे अभ्यास के बाद यह आन्तरिक तारा स्वाभाविक रूप से दिखाई पड़ेगा। अगर आप भ्रूमध्य में देख सकें तो इसका मतलब है कि आप में एक नई दृष्टि और शक्ति का प्रादुर्भाव हो रहा है। सतत् अभ्यास के बाद भ्रूमध्य में आपको एक आन्तरिक आँख का अनुभव होगा, तीसरी आँख का ज्ञान। वस्तुतः यह नेत्र मनुष्य में विश्व चेतना का प्रतीक है। इसके जगने पर मनुष्य में विवेक शक्ति का उद्रेक होता है। मोमबत्ती की लौ या दीप-शिखा के अतिरिक्त और वस्तुओं पर त्राटक साधना की जा सकती है। किन्तु विधि वही होगी जो ऊपर बताया गया है।

इष्ट देवता पर त्राटक—इष्ट देवता या गुरु का चित्र या मूर्ति को सामने आंख की सीध में लटका दें और मूर्ति में छोटे हिस्से पर, आंख पर या चरण पर त्राटक करें, एक टक देखें। तीन मिनट के बाद आंखें बन्द कर वही रूप मन की आंखों से देखें। जिसमें आपकी अधिक रुचि हो, उसी पर त्राटक करें। आप में लगन हो, साधना की धुन हो और अर्जुन की तरह की एकाग्रता हो, जिसे पेड़ पर बैठे पक्षी की केवल आंख के अन्दर की गोलाई दिखाई पड़ती थी और कुछ नहीं।

[लेखक महोदय ने षटकर्म की क्रियाओं को करने का वर्णन बड़ी सरल और सुबोध भाषा में करके सुखी और रोग रहित जीवन-विधि समझाने का प्रयास किया है। योग साधक-पाठकों को यह लेख बड़ा उपयोगी और लाभप्रद रहेगा, ऐसा हमारा विश्वास है। —सं० सम्पादक]

महाकवि शंकर की तीन रचनायें :—

—: ईश्वर-प्रणिधान :—

[१]

(१)

अज, अद्वितीय, अखण्ड, अक्षर, अर्यमा, अविकार है,
अभिराम, अव्याहत, अगोचर, अग्नि, अखिलाधार है
मनु, मुक्त, मंगलमूल, मायिक, मानहीन, महेश है,
करतार, तारक है तुही यह वेद का उपदेश है।

(२)

वसु, विष्णु, ब्रह्मा, बुध, बृहस्पति, विश्वव्यापक, बुद्ध है,
वरुणेन्द्र, वायु, वरिष्ठ, विश्रुत, वन्दनीय, विशुद्ध है,
गुणहीन, गुरु, विज्ञान-सागर, ज्ञान-गम्य, गणेश है,
करतार, तारक है तुही यह वेद का उपदेश है।

(३)

निरुपाधि, नारायण, निरंजन, निर्भयामृत, नित्य है,
अत्ता, अनादि, अनन्त, अनुपम, अन्न, जल, आदित्य है,
परिभू, पुरोहित, प्राण, प्रेरक, प्राज्ञ, पूज्य, प्रजेश है,
करतार, तारक है तुही यह वेद का उपदेश है।

(४)

कवि, काल, कालानल, कृपाकर, केतु, करुणा-कन्द है,
सुखधाम, सत्य, सुपर्ण, सच्चिव, सर्व-प्रिय, स्वच्छन्द है,
भगवान, भावुक-भक्त-वत्सल, भू, विभू भुवनेश है,
करतार, तारक है तुही यह वेद का उपदेश है।

(५)

अव्यक्त, अकल, अकाय, अच्युत, अंगिरा, अविशेष है,
श्रीमच्छुभाशुभशून्य, शंकर, शुक्र, शासक, शेष है,
जगदन्त, जीवन, जन्मकारण, जातवेद, जनेश है,
करतार, तारक है तुही यह वेद का उपदेश है।

—: बिदा :—

[२]

साँची मान सहेली परसों,
पीतम लेव आवेगो री !

मात-पिता भाई-भौजाई, सबसों राख सनेह-सगाई,
दो दिन हिल-मिल काट यहाँ से—फिर को तोहि पठावेगो री !

अबकी खेला नाहि टरेगो, जानों पिय के संग परेगो,
हम सब को तेरे बिछुरन को—दारुण शोक सतावेगो री !

चलने की तैयारी करले, तोशा बाँध गैल को धरले,
हालांहाल बिदा की बिरियाँ—को पकवान बनावेगो री !

पुर-बाहर लों पीहर वारे, रोवत संग चलेंगे सारे,
'शङ्कर' आगे-आगे तेरो—डोला मचकत आवेगो री !

: योग पर अन्योक्ति :—

[३]

आज मिला बिछुड़ा वर मेरा,
पाया अचल सुहाग री !

भभका वेग वियोगानल का, स्रोत बहाया धीरज-जल का,
डूबी सुरत-प्रेम-सागर में, बुझी न उर की आग री !

इत-उत याँग लगाती डोली, ठगियों को ठनगई ठठोली,
हुआ न सिद्ध मनोरथ तो भी, और बढ़ा अनुराग री !

ठौर-ठौर भटकी-भटकाई, सुधि न प्राण-वल्लभ की पाई,
साहस ने पर हार न मानी, लगी लगन की लाग री !

एक दया-निधि ने कर दाया, तुरत ठिकाना ठीक बताया,
पहुँची पास पिया शंकर के, इस विधि जागे भाग री !

कर्म का उद्भव और स्वरूप

● ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश

'कर्म' शब्द (कृ) धातु से बना है। उसका अर्थ 'कर्त्ता' (हलचल) होता है। पुरुष और प्रकृति– ये दो तत्व हैं। इनमें से पुरुष चेतन है, अपरिवर्तनशील है और प्रकृति जड़ है, परिवर्तनशील है। जब यह पुरुष (परमात्मा) प्रकृति के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब प्रकृति की क्रिया पुरुष का 'कर्म' बन जाती है, क्योंकि प्रकृति के साथ सम्बन्ध मानने से तादात्म्य हो जाता है और उससे होने से जो प्राकृत वस्तुएँ प्राप्त हैं, उनमें ममता होती है और उस ममता के कारण अप्राप्त वस्तुओं की कामना होती है। इस प्रकार जब तक कामना, ममता और तादात्म्य रहता है, तब तक जो कुछ परिवर्तन रूप क्रिया होती है उसका नाम 'कर्म' है। प्रकृति में पुरुष का तादात्म्य टूटने पर वही कर्म पुरुष के लिए 'अकर्म' हो जाता है। अर्थात् क्रिया मात्र रह जाता है, उसमें फल-जनकता नहीं रहती। यह कर्म में 'अकर्म' है, प्रकृति या शरीर से अपनी पृथकता का अनुभव न होने से वे क्रियाएँ 'कर्म' बन जाती हैं।

परमात्मा से वेद उत्पन्न हुए, वेद से कर्म, कर्म से यज्ञ, यज्ञ से वर्षा, वर्षा से अन्न, अन्न से भूत-प्राणी और भूत-प्राणियों से क्रमशः फिर कर्म और कर्म से क्रमशः फिर भूतादि। इसी प्रकार कर्म से प्रजा और प्रजा से कर्म का यह चक्र इस प्रकार अनादि है और जब एक बार कर्म का चक्र शुरू हो जाता है, तब परमेश्वर भी उसमें हस्तक्षेप नहीं करता। जीवन ही कर्म है, मृत्यु कर्म का अभाव है। जन्म कर्म का प्रारम्भ है और मृत्यु कर्म का अन्त है। जीवन में कर्म रोकना असम्भव है। जीते-जी कर्म चलेगा ही, जीते-जी कर्म से छुटकारा असम्भव है। जीवन की प्रत्येक क्रिया कर्म है। अगर आप श्वांस भी लेंगे तो भी कर्म होगा। उठोगे-बैठोगे तो भी कर्म होगा। जीना कर्म की प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है।

जीवित मनुष्य के जीवन को देखें तो यह स्पष्ट समझमें आ जाता है कि कर्म बन्द होते ही शरीर मर जाता है और फिर मृत शरीर को ध्यान से देखो, उसकी सब क्रियाएँ जब बन्द हो जाती हैं तो हम उसे मृत कहते हैं। मृत शरीर के अन्दर कोई क्रिया नहीं होती। कोई भी शरीर जब बाह्य संसार से कोई प्रतिक्रिया नहीं करता है तो उसे मरा हुआ कहा जाता है। क्रिया ही जीवन का चिह्न है, हम और आप जब जीवित हैं तो बिना कार्य किये नहीं रह सकते। जब तक हम और आप जीवित हैं कर्म करना ही पड़ेगा, क्योंकि शरीर के द्वारा स्पन्दित होने वाला जीवन ही तो बाह्य जगत् में क्रिया है। मृत्यु आने तक हर जीवित मनुष्य में कर्मका प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। कर्म अपरिहार्य है क्योंकि वह जीवन का प्रतीक है। जीवन कर्म में वैसे ही होता है जैसे मृत्यु अकर्म में।

कर्म व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। कर्मका त्याग नहीं किया जा सकता है, क्योंकि व्यक्तिगत जीवन की अभिव्यक्ति कर्म के द्वारा ही होती है। मृत शरीर ही कर्म से छुटकारा पा सकता है। जब कोई जीव संसार में पैदा होता है तो वह सब ओर से बाह्य उत्प्रेरक प्राप्त करता है। उन्हें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द कहते हैं। ये पाँच प्रकार के उत्प्रेरक हैं जिन्हें हम इन्द्रिय-विषय कहते हैं, हमें प्रभावित किया करते हैं। आप इस संसार में बिना कोई उत्प्रेरक लिए एक क्षण भी नहीं रह सकते हैं। आप चाहें या न चाहें उत्प्रेरक आपके हृदय में पहुँचते रहते हैं। ये पाँचों द्वारों से जिन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं आपके अन्दर पहुँच जाते हैं। आँखों से होकर रूप पहुँचता है, कानों से होकर शब्द प्रविष्ट होते हैं, नाकसे गन्ध, जिह्वा से स्वाद मिलता है और त्वचा से स्पर्श ज्ञान होता है, इन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। इस प्रकार इन ज्ञानेन्द्रियों से संसार के विभिन्न विषय हमारे अन्दर पहुँचते हैं और हमसे अपने ऊपर प्रतिक्रिया करवाते हैं।

मानव कर्म की यांत्रिक संरचना में हमारी इच्छा, विचार और कर्म के पीछे वासना कहलाने वाली हमारी आन्तरिक अभिरुचि और प्रवृत्ति ही प्रेरक शक्ति का कार्य करती है। व्यक्ति का किया हुआ प्रत्येक कर्म उसकी सूक्ष्म प्रवृत्तियों की स्थूल अभिव्यंजना है। प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर उठने वाली इच्छा शीघ्र विचार का रूप ले लेती है और विचार उसे बरबस उसकी इच्छा की पूर्ति के लिए कर्म करा लेते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियाँ या वासनाएँ ही उसकी समस्त इच्छाओं और कर्मों की मूल प्रेरक हैं और जब तक उनका अस्तित्व रहता है, उसके हृदय में इच्छाएँ फेन की तरह उबला करती हैं। जीवन में उनसे मानसिक उद्वेग और असन्तोष हुआ करता है।

संस्कृत में वासना का अर्थ है गन्ध। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अलग विशेष प्रकार की वासनाएँ होती हैं और इन्हीं से उसके व्यक्तित्व की रचना होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वासनाओं का मूर्तरूप होता है। मनुष्य मात्रकी असमानता का कारण उन वासनाओं की विभिन्नता और प्रकार भेद ही है, जिससे उसकी रचना होती है। जो भी व्यक्ति जब अपनी वासनाओं से छुटकारा पाता है तो वह अपने मानसिक विक्षेपों का उल्लंघन कर जाता है और दिव्यता को प्राप्त कर लेता है। कर्म के मूल का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य को चयन की कोई स्वतन्त्रता नहीं है। वह अपनी प्रवृत्तियों के अनुकूल कर्म करने के लिए बाध्य है, किन्तु यह बात मानव जीवन के साथ सत्य नहीं है। पशु अपनी प्रवृत्तियों के शिकार अवश्य होते हैं, उन्हें चयन का अवसर नहीं है। उदाहरण के लिए चीते की प्रवृत्ति आक्रमण और मार डालने की है; इसलिए उसकी इच्छा, विचार और कर्म उसी दिशा की ओर उन्मुख होते हैं। उसे अपनी भीषण और घातक प्रकृति से विरत रहने का विवेक नहीं है।

जैसे ग्रामोफोन रिकार्ड पर सुई की खुरच लगने से ध्वनि उत्पन्न होती है, वैसे ही वासनाओं से कामना और विचार उत्पन्न होते हैं, किन्तु मनुष्य के अन्दर विवेक शक्ति है। जिसके द्वारा अपने अन्दर उठने वाली इच्छाओं और भावनाओं से विरत रहकर सही कर्म करने का प्रयत्न कर सकता है। इस प्रकार यदि हम अपने पीछेकी ओर देखते हैं तो हम अपने को अपने पूर्व कर्मों का

करना चाहिए ? आदेश और अन्तिम निर्णय बुद्धिसे प्राप्त होते हैं। क्योंकि मनुष्य के शरीर में शरीर से श्रेष्ठ व उच्च इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियों से श्रेष्ठ व उच्च मन है और मन से भी श्रेष्ठ व उच्च और महान बुद्धि है। शरीर के दफ्तर में सबसे उच्च अधिकारी बुद्धि है। अन्तिम निर्णय उसी के हाथ में है, लेकिन बुद्धि भी मनमाने ढंग से उल्टे-सीधे निर्णय नहीं ले सकती। बुद्धि पक्ष या विपक्ष में निर्णय ले सकती है, किन्तु बौद्धिक निर्णय विभागीय नियमों और परम्परा के अनुसार ही होंगे। जिन विभागीय नियमों या परम्पराओं से जिन सिद्धान्तों और विचारों से बुद्धि प्रभावित होती है, उन्हें वासनाएँ अथवा संस्कार कहते हैं।

हमारे पूर्व संस्कार ही संसार के प्रति हमारी वर्तमान प्रतिक्रिया को नियमित और दिशा निर्देश करते हैं, क्योंकि बुद्धि पर हमारे ही पूर्व संस्कारों का प्रभाव रहता है। यदि एक शराब की बोतल को एक ब्राह्मण और एक मुसलमान को दें तो मुसलमान बोतल की ओर लपकेगा और ब्राह्मण उससे दूर हटेगा। बोतल न किसी को आकर्षित करती है और न विकर्षित। मनुष्य की जैसी बुद्धि होती है, उसी के अनुसार वह आकर्षित या विकर्षित होता है। अतः हमारी बुद्धि में उपस्थित हमारे ही विचार और आदर्श हमारे बौद्धिक निर्णयों को दिशा-निर्देश करते हैं। हमारा मन जो उत्प्रेरक बाहर से प्राप्त कर बुद्धि के सामने उपस्थित करता है, उस पर बुद्धि अपने ही संस्कारों के अनुसार निर्णय लेती है। इस प्रकार बाह्य संसार इन्द्रियों से होकर मन में अन्दर पहुँचता है। प्राप्त उत्प्रेरकों को मन बुद्धि के सामने रखता है। बुद्धि को नियन्त्रित करने वाली वासनाओं के अनुसार बुद्धि उन उत्प्रेरकों पर निर्णय लेती है और जब आदेश हो जाता है तो आदेश मन के पास पुनः वापस भेज दिया जाता है। बुद्धि से आदेश पाकर मन कर्मेन्द्रियों को संचालित करता है और इस प्रकार बाह्य संसार में कर्म होने लगते हैं। लेकिन शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त आदि शरीरके सभी कर्म आत्मा की शक्ति से ही होते हैं।

निर्णय करने का काम बुद्धि का है, लेकिन एक ही बात का लोग अपनी-अपनी बुद्धि से भिन्न-भिन्न निर्णय करते हैं, क्योंकि आदर्शों और विचारों तथा संस्कारों सभी एक जैसे नहीं होते, भिन्न-भिन्न होते हैं। कोई बुरा करता है तो कोई भला, यह सब मनुष्य की प्रकृति स्वभावके अनुसार होता है। उदाहरण के लिए—आप जा रहे हैं और रास्तेमें किसी का बटुआ मिलता है तो आप विचार करते हैं—"क्या मैं इसे अपनी जेब में रख लूँ या जिसकी जेब से गिरा है उसको दे दूँ। आप क्या किया करते हैं, इसका निर्णय कौन करेगा ? आपका आदर्श, आपकी भावना, आपकी शिक्षा-दीक्षा जो आपके अंदर संस्कार रूप से है। यदि आपकी दूषित भावनायें व संस्कार हैं तो आप बटुआ को अपनी जेब में रख लेंगे, बुद्धि इस प्रकार तर्क देने लगेगी।" देखो, पिछले माह में भगवान से प्रार्थना कर रहा था कि मेरी सहायता करो, ईमानदार आदमी की रक्षा सदा भगवान किया करते हैं। भगवान देता है तो सड़क पर चलते दे देता है। इस प्रकार आप स्वयं समर्थन कर लेते हैं। यदि आपको उचित शिक्षा-दीक्षा मिली है और जीवन को सही रूप से समझते हैं, आप सुसंस्कृत हैं तो आपकी आँखों के सामने अथवा आपकी भावनाओंमें वह दुःखद भाव तुरन्त आ जायेगा कि बेचारा घर पर

देखेगा तो बटुआ न पाकर वह तथा उसका परिवार कितना दुःखी होगा तो आपके अंदर तत्काल विचार आयेगा, मुझे उसकी सहायता करनी चाहिए। यह धन मेरा नहीं है जिसका है उसी को देना मेरा कर्तव्य है। उनकी प्रसन्नता इसी में है, लेकिन पहले की प्रसन्नता पर्स लेने में है देने में नहीं।

हमारे मानसिक विचारों की गुणवत्ता पर ही सब कुछ भला-बुरा निर्भर है। जिस प्रकार की भावना, विचार तथा आदर्शों से प्रेरित होकर हम कर्म करते हैं, उसी प्रकार का हमारा व्यवहार देखने में आता है। बुरे कर्म का फल दुःख, अच्छे कर्मों का फल सुख है तथा कृत-कृत्यता से आनन्द फल मिलता है। व्यक्ति का प्रत्येक कर्म बाह्य समस्याओं के प्रति एक प्रतिक्रिया होती है, यद्यपि बाहरी समस्यायें वही होती हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ करते हैं, उन्हींको हम कर्म कहते हैं।

महाभारत के युद्ध में हम देखते हैं कि दुर्योधन का सामना योगेश्वर श्रीकृष्ण भी कर रहे थे और अर्जुन भी। दोनों के सामने एक ही चुनौती थी। दोनों युद्ध क्षेत्र में भी थे, किन्तु श्रीकृष्ण विश्वास की प्रसन्नतामें मुस्करा रहे थे और उसके विपरीत अर्जुन उदास था, शोकाकुल था, वह कहता था कि युद्ध नहीं करूँगा और योगेश्वर श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि अर्जुन! तू युद्ध कर। अर्जुन किंकर्तव्य-विमूढ़ था। सोचने लगा मेरी समझ में नहीं आता कि मैं क्या करूं, क्या करना ठीक है, उचित है? क्या न करना ठीक है, युद्ध करूँ या न करूँ? अर्जुन की बुद्धि युद्ध न करने के पक्षमें निर्णय देती है और उसी प्रकार के तर्क भी दलील भी पेश करती है। लेकिन श्रीकृष्ण अपनी दूर-दर्शिता विवेक से युद्ध करने के पक्ष में सुझाव देते हैं।

संसार में हम इतना भेद-भाव, नानात्व देखते हैं, आखिर इसका कारण क्या है? मनुष्य-मनुष्य की उपलब्धियाँ, पुरुषार्थगत तथा प्रारब्धगत इतनी भिन्न-असमान क्यों हुआ करती हैं? कोई अत्यन्त दुःखी है, कोई अत्यन्त सुखी है। एक रंक तो एक राजा है, कोई विद्या-सम्पन्न तो कोई विद्या-रहित पशु सदृश। इन सबका कारण क्या है? इसका उत्तर तुलसीकृत रामायण ने स्पष्ट शब्दों में बताया है—

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा॥
कोऊ काहू को नहि सुख दुःख दाता।
निज कृत कर्मभोग फल चाखा॥

सन्त कबीर ने भी यही मत संसार के सामने रखा—

पिछली करणी अबके पावें,
ताही को नर करम बतावें।
होनहार अरु भाग वही है,
परालब्ध सोई वही कही है।
खोटी करणी से दुःख भारी,
होवें रंक पुरुष नर नारी॥

भगवान पतंजलिदेव के क्लिष्टा-अक्लिष्ट कर्मों के विधान को ही कबीरजी ने सहज व सरल भाषामें बताया है। अंधा, रोगी, कोढ़ी निर्धन, दरिद्र, मूढ़ आदि होना क्लिष्ट कर्मों का ही परिणाम है। जन्म-मरण भी योनि-भेद से नाना प्रकार के हैं। सभी जीव अपने कर्मों के फल के अधीन बंधे हैं। जीव जगत में अथवा अन्य लोकों में अपने ही किये कर्म-फलों को भुगतता रहता है। इसी प्रकार अक्लिष्ट कर्मों के विधान से जीव को जगत में तथा परलोक में भी सुख की प्राप्ति होती

असहाय शिकार पाते हैं, किन्तु यदि हम अपने आगे की ओर देखते हैं तो हम अपनेको ही अपने भविष्य का निर्माता पाते हैं।

हम जिस प्रकार का कार्य हैं, उसे तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। सर्व प्रथम, वह निम्नतर कार्य जिसे हम श्रम कह सकते हैं। श्रम करने वाले से पूछो कि वह श्रम क्यों करता है ? तो वह उत्तर में कहेगा कि धन कमाने के लिए वह श्रम केवल शारीरिक होता है। आप उस श्रमिक पूछें कि तुम धन का क्या करोगे ? तो वह उत्तर में कहेगा कि उससे अपना तथा अपने परिवार का पेट भरूँगा, मकान, वस्त्र आदि आवश्यक वस्तुएँ खरीदूँगा। अपने तथा अपने परिवार की सुख-सुविधा के साधन जुटाऊँगा। धन कमाने के उद्देश्य से जो भी कर्म हम करते हैं, चाहे वह कोई भी क्यों न हो, वह श्रमिक कहलाएगा। जो भी मनुष्य अपने शरीर, मन और बुद्धि का प्रयोग केवल इस विचार से करते हैं कि मैं अधिक से अधिक मान-प्रतिष्ठा करलूँ वह श्रमिक ही कहलायेगा।

श्रमिक के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के लोग 'कार्यकर्त्ता' होते हैं। जैसे देश-भक्त महात्मा गांधी ईश्वर-भक्त, समाज-सेवी आदि। ये लोग श्रमिक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ये धन के लिए कार्य नहीं करते। इनको राजनैतिक कार्यकर्त्ता, सामाजिक कार्यकर्त्ता कहा जाता है। आप किसी कार्यकर्त्ता से पूछें कि आप काम क्यों करते हैं ? तो वह कहेगा कि मैं एक आदर्श समाज या आदर्श मानव बनने के उद्देश्य से काम करता हूँ। वह एक ऐसा आदर्श ढाँचा चाहता है जिसकी कल्पना उसने मन में विचार रखी है और जिसे वह समाज में मूर्तमान रूप देना चाहता है। जितने अंश में उसका आदर्श समाज में अवतरित होता है उतना ही वह प्रसन्न होता है और कहता है "मुझे सफलता मिली है। इस प्रकार श्रमिक धनके लिए कर्म करता है और जितना अधिक से अधिक धन पाता है उतना ही वह प्रसन्न होता है। उसकी प्रसन्नता और सफलता धन में है और कार्यकर्त्ता अपने आदर्श की सफलता चाहता है।

तीसरे प्रकार के लोग संसार में बहुत कम होते हैं। श्रमिकों की संख्या संसार में सबसे अधिक है। कार्यकर्त्ता बहुत कम होते हैं, किन्तु संसार में तीसरे प्रकार के लोग तो सबसे कम इने-गिने विरले ही होते हैं उन्हें 'कृत-कृत्य' कहते हैं। श्रम करने वाले, कार्य करने वाले और कृत-कृत्य ऋषियों ने ये तीन वर्गीकरण किये हैं। यदि आप किसी कृत-कृत्य से पूछें—"आप संसार में क्या चाहते हैं क्यों कर्म करते हैं ? तो उनका उत्तर होता है, धार्मिक कृत्य करने में हमें आनन्द आता है। महात्मा बुद्ध, महावीर, ईसामसीह, गुरु नानक, विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द आदि महापुरुष अनेक कठिनाइयाँ सहते, तपस्या करने के पश्चात् जगह-जगह उपदेश देते। इसीलिए फिरे कि उसमें उन्होंने अपार प्रसन्नता व आनन्द का अनुभव किया। ये लोग न तो धन के लिए और न सफलता के लिए कर्म करते हैं। वे तो केवल अपने को कृत-कृत्य करना चाहते थे। वे और कुछ नहीं चाहते थे, वे तो केवल इसलिए कर्म करते थे कि उनके मन में काम करने का उत्साह था, वे केवल अपनी आत्म-तृप्ति के लिए कर्म करते थे। वे यह समझते थे कि मैंने जो कुछ किया वही करना उचित है। उनके कर्मों को कोई मान्यता दे या न दे, ऐसे लोग सर्वोत्कृष्ट प्रकार के हैं। कृत-कृत्य पुरुष अपने अन्दर किया आनन्द चाहता है। इतिहास

साक्षी है कि हर युग की पीढ़ियों ने ऐसे लोगों की हत्या की है, लेकिन ऐसे लोग मर कर भी अमर हो गये वे आनन्दपूर्वक मरे, क्योंकि आनन्द तो उनके अन्दर से उमड़ रहा था। इस प्रकार वे अपने अद्‌भुत आन्तरिक आनंद के साथ मर गये। अपने अन्दर के आनन्द को संसार को देनेके लिए ही उन्होंने कर्म किये। बाकी अन्य संसार से लेने के लिए कर्म करते हैं। श्रमिक धन लेने के लिए, कार्यकर्त्ता प्रशंसा, मान-सम्मान लेने के लिए कर्म करते हैं। लेकिन कृतकृत्य महापुरुषों ने अपने को तथा अपने परिवार को सुखी जीवन बिताने के लिए कर्म नहीं किया, बल्कि घर-परिवार को छोड़कर अपने शारीरिक सुखों को त्याग कर अपने सद्-आचरण और उपदेश के द्वारा मानवमात्र को आदर्श जीवन जीने की प्रेरणा देते रहे। जीवन का आनन्द प्राप्त कराने के उद्देश्य से, आत्मिक जीवनयापन के उद्देश्य से कर्म करते रहे। उन्होंने स्वयं तपस्या करके साधना-उपासना करके जीवन के आनन्द को पाया तथा सभी उस आत्मिक आनन्द को उपलब्ध हों, उस साधन प्रणाली का प्रचार किया। ऐसे ही महापुरुषों में हमारे सद्गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज हैं। ऐसे ही आदर्श महापुरुषों से ही संसार का स्तर ऊँचा उठता है और नैतिकता की चेतना प्रदीप्त होती है।

श्रमिक लोग दिन के चौबीस घण्टे शरीर और पेटको भरने के लिए ही कर्म करते रहते हैं। मनुष्य का पेट तो पेट है ही उसकी भूख को अन्न से दूर करते हैं। हमारा सिर भी पेट है और हृदय भी पेट ही है। इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि की भी भूख है इनकी भी माँग है। लेकिन इन्द्रिय भोगों की इतनी अधिक बढ़ गई है कि वह किसी भी सीमा पर तृप्त होने का नाम नहीं लेती। हम बौद्धिक रूप से इतने भारी पेट के हो गये हैं कि इस पेट को भरने के लिए दो हाथ, दो पैर और दिन-रात के चौबीस घण्टे भी पर्याप्त नहीं हैं।

संसार में अधिकांश लोगों को हम देखते हैं कि सिवाय उदर-पूर्ति, इन्द्रिय-पूर्ति के अलावा उनके जीवन में न तो कोई आदर्श है और न कोई लक्ष्य। वे केवल शरीर स्तर तक ही रहते हैं। इनकी तुलना पशुओं से ही हो सकती है। पशु भी शरीर के स्तर पर ही जीते हैं। खाना, निद्रा, भय और मैथुन। यदि मनुष्य भी उस स्तर पर ही जीता है तो उसका जीवन पशुवत ही माना जाता। पशु-जगत में शान्ति और सम्पन्नता कभी नहीं हो सकती, क्योंकि वह पशुओंके भाग्य में कदापि नहीं है। शरीर की माँग से प्रेरित होकर कर्म करने वाला मनुष्य-मनुष्य आकृति में पशु ही होता है। मन से प्रेरित होकर अर्थात् मन की प्रेरणा से कर्म करने वाला मनुष्य होता है। बुद्धि की प्रेरणासे कर्म करने वाला व्यक्ति बुद्धिमान मानव कहा जाता है और आत्मा की प्रेरणा से कर्म करने वाला योगी सिद्ध-महात्मा कहा जाता है।

बाहर संसार से जो इन्द्रियों से उत्प्रेरक प्राप्त होते हैं तो मन ही उन उत्प्रेरकों को ग्रहण करता है। बुद्धिहीनों का मन ही उनका निर्णायक बन जाता है, ऐसे व्यक्तियों का मन जो कहता है वह वही करते हैं। लेकिन जो व्यक्ति पढ़े-लिखे बुद्धिमान होते हैं उनका मन स्वयं निर्णय नहीं ले सकता। मन से भी श्रेष्ठ बुद्धि है, बुद्धिमान लोगों की बुद्धि जो निर्णय करती है वही करते हैं। यह बात बुद्धि को ही विचार कर करनी होती है कि क्या ठीक है और क्या गलत है। परिस्थितियों का सामना कैसे करें? मुझे किस समय क्या

है। पूर्व जन्म में जिन्होंने शुभ कर्म किये हैं, उन्हें स्वस्थ, सुन्दर तथा धनवान, अच्छे संपन्न परिवार में जन्म मिलता है तथा संसार में पुत्र-कलत्र, सुशील पत्नी, धन, मान-सम्मान प्राप्त होता है—

देव दानव अरु अप्सरा,
मानुष यक्षगण प्रेत।
कर्मों से ही होत हैं,
पाप पुण्य का हेत॥

कर्म तीन तरह के होते हैं—क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध। अभी वर्तमान में जो कर्म किये जाते हैं, वे क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। वर्तमान से पहले इस जन्म में किये हुए अथवा पहले के अनेक मनुष्य जन्मों में किये हुए जो कर्म संग्रहीत हैं, वे संचित कर्म कहलाते हैं। संचित में से जो कर्मफल देने के लिए प्रस्तुत (उन्मुख) हो गये हैं अर्थात् जन्म, आयु और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति के रूप में परिणित होने के लिए सामने आ गये हैं, वे प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं। एक 'करना' होता है और एक 'होना' होता है, दोनों विभाग अलग-अलग हैं। करने की चीज है—कर्त्तव्य और होने की चीज है-फल। गीता के अनुसार मनुष्य का कर्म करने में अधिकार है फल में नहीं। तात्पर्य यह है कि होने की पूर्ति प्रारब्ध के अनुसार अवश्य होती है। 'करना' पुरुषार्थ के अधीन है और 'होना' प्रारब्ध के अधीन है। इस वास्ते मनुष्य करने में स्वाधीन है और होने में पराधीन है।

जिस कर्म को करते समय हमारा अहंकार कर्म से जुड़ जाता है अर्थात् 'मैं' कर रहा हूँ, ऐसा भाव कर्त्ता के मनमें होता है, तभी कर्ता कर्म के बन्धन में बँध जाता है और जिस कर्म को करते समय आप कहते हैं कि 'मैं' कर्त्ता नहीं, परमात्मा करवा रहा है, प्रकृति कर रही है, मैं तो देख रहा हूँ। 'मैं' कर्त्ता हूँ तभी कर्म कर्त्ता को पकड़ता है। स्वयं के कर्त्ता का प्रभुत्व-भाव छोड़कर तथा सब प्रभुको अर्पित-समर्पित कर जो कर्म करता है, उसे कर्म का कोई लेप नहीं होता। प्रकृति से अपना संबंध मानने वाला (प्रकृतिस्थ) पुरुष ही कर्त्ता-भोक्ता बनता है। जब वह प्रकृति से सम्बन्ध-विलग कर लेता है अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, तब उस पर कोई कर्म लागू नहीं होता।

यह संसार-चक्र, जो कि वस्तुतः 'कर्म-वृत्ति-संस्कार एवं तज्जन्य स्मृति, पुनः स्मृति-संस्कार-वृत्तियाँ-कर्म; इस क्रम के निरन्तर बहते प्रवाह के द्वारा घूम रहा है। इसी के कारण जीवन भर बन्धन में— जन्म-मरण के आवर्त्त में पड़े चक्कर काटते हैं। जब सब वेद, कर्म व प्रजा परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं और सबका मूल वह परमात्मा ही है, तब वेद व कर्म का फल भी बिना किसी विवाद के यही सिद्ध होता है कि उस मूल (परमात्मा) की ओर अग्रसर हुआ जाय न कि उल्टे कर्मों द्वारा जन्म-मरण रूप संसार का दुःख मोल ले लिया जाय।

कर्म का प्रारम्भ से निवृत्ति तथा सुख की प्राप्ति के लिए होता है और जिस वस्तु के के लिए दौड़-धूप है, उसको प्राप्त करके दौड़ धूप का बन्द हो जाना ही स्वाभाविक है। जब मनुष्य आत्म ध्यान-समाधि के द्वारा आत्म तृप्त से स्थिर सुख-शान्ति को अखण्ड आनन्द को पा लेता है तो उसके समस्त कर्मों की दौड़-धूप का पर्यवसान हो जाता है और यही कर्मों का उपसंहार है। कर्म-चक्र का यही पर्यवसान है और यही उपसंहार।

पत्रं पुष्पं फलं तोयम्

धर्म-व्याध का उपदेश

—महाभारत वनपर्व

न पापे प्रतिपापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत् ।
आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्तुमिच्छति ।।

यदि कोई अपने साथ बुरा बर्ताव करे, तो स्वयं भी बदले में उसके साथ बुराई न करे। सबके साथ सदा सद्व्यवहार ही करे। जो पापी दूसरों का अहित करना चाहता है, वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है।

कर्म चैतदसाधूनां वृजिनानामसाधुवत् ।
न धर्मोऽस्तीति मन्वानाः शुचीनवहसन्ति ये ।।

यह (दूसरों का अहित करना) तो दुराचारी की भाँति दुर्व्यसनों में आसक्त हुए पापी पुरुषों का ही कार्य है जो 'धर्म कोई चीज नहीं है', ऐसा मानकर जो शुद्ध आचार-विचार वाले श्रेष्ठ पुरुषों की हँसी उड़ाते हैं।

अश्रद्दधाना धर्मस्य ते नश्यन्ति न संशयः ।
महादृतिरिवाध्मातः पापो भवति नित्यदा ।।

धर्म पर अश्रद्धा रखने वाले मनुष्य निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं। पापी मनुष्य लुहार की बड़ी धौंकनी के समान सदा ऊपर से फूले दिखाई देते हैं परन्तु वास्तव में वे सारहीन होते हैं।

साधुः सन्नतिमानेव सर्वत्र द्विजसत्तम ।

द्विजश्रेष्ठ ! उत्तम पुरुष सर्वत्र विनयशील ही होता है।

मूढानामवलिप्तानामसारं भाषितं भवेत् ।
दर्शयत्यन्तरात्मा तं दिवा रूपमिवांशुमान् ।।

अहंकारी मूढ़ मनुष्यों की सोची हुई प्रत्येक बात निःसार होती है। जैसे सूर्य दिन के रूप को प्रकट कर देता है, उसी प्रकार मूर्खों की अन्तरात्मा ही उनके यथार्थ स्वरूप का दर्शन करा देती है।

न लोके राजते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया ।
अपि चेह श्रिया हीनः कृतविद्यः प्रकाशते ।।

मूर्ख मनुष्य केवल अपनी प्रशंसा के बल से जगत् में प्रतिष्ठा नहीं पाता है, विद्वान् पुरुष कान्तिहीन हो, तो भी संसार में उसकी ख्याति बढ़ जाती है।

अब्रुवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन् ।
न कश्चिद् गुणसम्पन्नः प्रकाशो भुवि दृश्यते ॥

किसी दूसरे की निन्दा न करे, अपनी मान-प्रतिष्ठा की प्रशंसा न करे, कोई भी गुणवान् पुरुष परनिन्दा और आत्म-प्रशंसा का त्याग किये बिना इस भूमण्डल में सम्मानित हुआ हो, यह नहीं देखा जाता है।

विकर्मणा तप्यमानः पापाद् विपरिमुच्यते ।
न तत् कुर्यां पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते ॥

जो मनुष्य पापकर्म बन जाने पर सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करता है, वह उस पाप से छूट जाता है तथा 'फिर कभी ऐसा कर्म नहीं करूँगा' ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने पर वह भविष्य में होने वाले दूसरे पाप से भी बच जाता है।

कर्मणा येन तेनेह पापाद् द्विजवरोत्तम ।
एवं श्रुतिरियं ब्रह्मन् धर्मेषु प्रतिदृश्यते ॥

विप्रवर ! शास्त्रविहित (जप, तप, यज्ञ, दान आदि) किसी भी कर्म का निष्काम भाव से आचरण करने पर पाप से छुटकारा मिल सकता है। ब्रह्मन् ! धर्म के विषय में ऐसी श्रुति देखी जाती है।

पापान्यबुद्ध्वेह पुरा कृतानि प्राग् धर्मशीलोऽपि विहन्ति पश्चात् ।
धर्मो राजन् नुदते पूरुषाणां यत् कुर्वते पापमिह प्रमादात् ॥

पहले का धर्मशील पुरुष भी यदि अनजान में यहाँ कोई पाप कर बैठे तो वह पीछे (निष्काम पुण्य कर्म द्वारा) उस पाप को नष्ट कर देता है। राजन् ! मनुष्यों का धर्म ही यहाँ प्रमादवश किये हुए उनके पापों को दूर कर देता है।

पापं कृत्वा हि मन्येत नाहमस्मीति पूरुषः ।
तं तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥

जो मनुष्य पाप करके भी यह मानता है कि 'मैं पापी नहीं हूँ।' वह भूल करता है; क्योंकि देवता उसे और उसके पाप को देखते हैं तथा उसी के भीतर बैठा हुआ परमात्मा भी देखता ही है।

चिकीर्षेदेव कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः ।
वसनस्येव छिद्राणि साधूनां विवृणोति यः ॥
(अपश्यन्नात्मनो दोषान् स पापःप्रेत्य नश्यति ॥)

श्रद्धालु मनुष्य दूसरों के दोष देखना छोड़कर सदा सबके हित की ही इच्छा करे। जो पापी अपने दोषों की ओर से आँखें बन्द करके सदा दूसरे श्रेष्ठ पुरुषों के दोषों को ही कपड़े के छेदों की भाँति अधिकाधिक प्रकट करता और बढ़ाता है, वह मृत्यु के पश्चात् नष्ट हो जाता है—परलोक में उसे कोई सुख नहीं मिलता।

जपस्व सोऽहं पुनरेव सोऽहम्

पं० द्वारिकाप्रसाद शर्मा, लखनऊ

जाने न किंचित् किं सत्यमस्ति, किं वाऽसत्यं जगतीह यद्यत् ।
यदा प्रभोऽहं भवतानुबद्धः, तदा समस्तं भवतीह स्वप्नम् ॥१

इस संसार में क्या सत्य है और क्या असत्य है, मैं कुछ नहीं जानता । परन्तु, हे प्रभो, जब मैं आपसे अपने को जुड़ा हुआ पाता हूँ, तब यह समस्त 'जागतिक क्रिया-कलाप' नष्ट हो जाता है ।

शिशुत्वरूपे च किशोररूपे, युवास्वरूपे ननु प्रौढरूपे ।
दृष्टं चभुक्तं, सुविचारितं यदा, तदा समस्तं भवतीह स्वप्नम् ॥२

शिशु रूप में, किशोर रूप में, युवा रूप में तथा प्रौढ़ रूप में देखे गए तथा माने गए विषयों के प्रति जब मैंने सम्यक् विचार किया, तब यह समस्त 'जागतिक क्रिया-कलाप' स्वप्न-वत् हो जाता है ।

मातुः पितुश्चैव सुकालमाप्तं, स्मरणीवशेषं च सुखानुभूतम् ।
गतं कुतस्तत्सकलं सुकालम्, नेतन्न तत् स्वप्नमितं समस्तम् ॥३

माता और पिता के सान्निध्य में सुन्दर समय बीता तथा अनुभव किये गये सुखों का अब स्मरणमात्र ही शेष है । वह सारा का सारा सुन्दर समय कहाँ चला गया, क्या ऐसा तो नहीं, वह सारा समय स्वप्न ही हो गया ?

यदा यौवने भार्यया साकमासम्, त्रयेषणैः पुरितमानसोऽहम् ।
गतानि वर्षाणि बहूनि तावत्, स्मरामि स्वप्नायितमेव कालम् ॥४

युवावस्था में, जब मैं भार्या के संग रहता रहा, तब मेरा मन तीन प्रकार की ऐषणाओं 'वित्तैषणा, पुत्रैषणा तथा शास्त्रैषणा' से भरा पूरा रहा । बहुत से वर्ष उनकी पूर्ति में वैसे ही निकल गये । उस समय को मैं अब स्वप्नवत् मिथ्या जान स्मरण कर रहा हूँ ।

चित्ते मदीये ननु साऽस्ति चिन्ता, कथं नु नीतं बहुमूल्यकालम् ।
कियत् कालशेषं न हि तन्न जाने, सुषुप्तिवत्सत् तक लायितेमया ॥५

मेरे चित्त में अब यही चिन्ता है कि मैंने इतना बहुमूल्य काल कैसे बिता दिया है । मेरे लिए कितना समय शेष रह गया है, इसे भी मैं नहीं जानता, वह सारा का सारा समय क्या मैंने सुषुप्ति की अवस्था में, निद्रा व प्रमादावस्था में, नहीं बिता दिया है ?

अद्यापि रे मूढमते, विचिन्तय, त्वं कः कथं केन च प्रेषितं रे।
ध्येयोऽस्ति किं ते करणीयमस्ति किं, विचार्य कुरु तत्, सुसमाहितो भव ॥६

हे मुग्ध मतिवाले, अब भी विचार कर ले कि तू कौन है, और इस संसार में क्यों और किसके द्वारा भेजा गया है, तेरा ध्येय विषय क्या है और तुझे क्या करना चाहिये। इन सबको विचारपूर्वक सोचकर कर ले तथा समाहित 'भली प्रकार से निश्चयात्मक विवेक युक्त' हो जा।

संगम्य शरणं करुणानिधीनां, श्री श्री गुरूणां दयार्द्रचेतसाम्।
शृणुष्व किं तेऽस्ति जनुःफलप्रदम्, कुरुष्व शीघ्रमपुनर्भवाय ॥७

दया से आर्द्र हुए चित्त वालों तथा करुणानिधान श्री गुरुदेव की शरण प्राप्त करते हुए यह सुनो कि तुम्हारे लिए इस जीवन का फल प्रदान करने वाला क्या तत्व है तथा उसे इस भवबन्धन में पुनः न आने के लिए शीघ्र ही कर डालो।

त्वं नासि देहेन्द्रियमात्रभूतः, कर्त्तापि भर्त्तापि च नैव त्वं रे।
त्वमेव सः सोऽपि त्वमेव मित्र, जपस्व सोऽहं पुनरेव सोऽहम् ॥८

तुम यह इन्द्रियमात्र भूत देह ही नहीं हो, अरे, न ही तुम कर्त्ता हो और न ही तुम भर्त्ता ही हो। तुम तो वही 'आत्मरूप' हो और आत्मरूप ही तुम हो, इसलिये सोऽहम् सोऽहम् का बारम्बार तुम जप करो क्योंकि तुम वही हो, वही तुम हो।

पार्थना से दीर्घायु

मध्य भारत के पण्डित बद्रीप्रसाद मिश्र की दीर्घायु का रहस्य प्रार्थना और सुबह-शाम हवन (अग्नि में सुगन्धित द्रव्य तथा घी की आहुति देने की क्रिया) ही था। २५ वर्ष की अवस्था में विधुर हो जाने के बाद सम्भ्रान्त कुलोत्पन्न तथा साधन सम्पन्न होने पर भी आपने दूसरा विवाह नहीं किया। सद्विचार और नियमित आहार-विहार तथा इन्द्रिय संयम को आप अपने दीर्घजीवन का कारण बताते थे। सुबह-शाम दो मील घूमना तथा प्रातः जागरण आपका नियम रहा। अस्वस्थ होने पर औषधि ग्रहण करने की अपेक्षा आप भोजन छोड़ देते थे। भूख लगने पर ही भोजन करने का आपका नियम रहा। चावल आपको पसन्द नहीं था, चाय कभी नहीं लेते थे। गौ दूध से आपको विशेष रुचि रही। छोटे बच्चों के साथ विनोद करने में आपको बड़ा सुख मिलता है। बीमार आप बहुत कम पड़ते थे। ८८ वर्ष की आयु में आपका शरीरान्त हुआ।

—उनकी अपनी जीवनी से

योग का अर्थ

● वैद्य रामधन शर्मा, शास्त्री

योग का यथार्थ अर्थ समझो। वह अर्थ है श्री भगवान के साथ युक्त हो जाना अर्थात् भगवान को यथार्थ में पा लेना या भगवत्प्रेम रूप अथवा भगवत्रूप हो जाना। यही जीव का परम ध्येय है। जब तक जीव इस स्थिति में नहीं पहुँच जाता तब तक न उसको तृप्ति होगी न शान्ति मिलेगी। न भटकना बन्द होगा और न किसी पूर्ण नित्य सनातन आनन्द रूप तत्व के संयोग की, अतृप्ति और प्रच्छन्न आकांक्षा की ही पूर्ति होगी। इस पूर्ण के संयोग का नाम ही योग है। अथवा इसको पाने के लिए जो जीव का विविध रूप से साधन का प्रयत्न है उसका नाम ही योग है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, सांख्ययोग, राजयोग, मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग आदि इसी के नाम हैं। परन्तु यह बात याद रखो कि जो कर्मज्ञान भक्ति ध्यान सांख्य मन्त्रादि हठ की क्रिया भगवन्मुखी नहीं है वह योग नहीं है कुयोग है। और इससे प्रायः पतन ही होता है। अतएव जिसमें तुम्हारी रुचि हो उसीको भगवत्प्राप्ति का मार्ग मानकर सादर ग्रहण करो।

ये सब योग भिन्न-भिन्न भी हैं। और इनका परस्पर मेल भी है। यों तो किसी भी भी योग में ऐसी बात नहीं है कि वह दूसरे की बिल्कुल अपेक्षा न रखता हो, परन्तु प्रधानता-गौणता का अन्तर होता है। कुछ योगों का सुन्दरतम् समन्वय है। गीता में ऐसा ही समन्वय प्राप्त होता है। केवल शरीर, वाणी, बुद्धि, मन आदि से जैसे कोई काम ठीक नहीं होता, इसी प्रकार इन दोनों के विषय में समझो।

हाँ, इतना जरूर ध्यान रहे कि जिन योगों में मन का संयोग होने पर भी (जैसे नेति धौति आदि षटकर्म बन्ध मुद्रा प्राणायाम कुण्डलिनि जागरण आदि) शारीरिक क्रियाओं की प्रधानता है अथवा मन्त्र तन्त्रादि से सम्बन्धित देव विशेष की पूजा, पद्धति मुख्य है उनमें अज्ञान अविधि अव्यवस्था अनियमितता होने से लाभ तो होता ही नहीं, उल्टी हानि होती है। भाँति-भाँति के कष्टसाध्य या असाध्य शारीरिक मानसिक रोग हो जाते हैं। अतएव ऐसे योगों की अपेक्षा भक्तियोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि उत्तम हैं। ये अपेक्षाकृत बहुत ही निरापद हैं। इनमें भी अनुभव शून्य लोगों की देखा देखी अविधि करने से हानि हो सकती है। अतएव शान्त मन वाले, शील स्वभाव वाले और शास्त्र को जानने वाले एवं अनुभवी गुरु की—पथप्रदर्शक की—सभी योगों में अत्यन्त आवश्यकता है।

परन्तु अध्यात्म मार्ग का पथ-प्रदर्शक या गुरु सहज ही नहीं मिलता। भगवत्कृपा से ही अनेक जन्मार्जित पुण्य पुंज के फलस्वरूप अनुभवी और दयालु गुरु मिलते हैं।

हर किसी को गुरु बना लेने में तो बहुत ही खतरा है। आजकल देश में गुरु बनने वालों की भरमार है। यथार्थ में स्थिति यह है कि अनेक लुच्चे-लफंगे, काम और लोभ के के गुलाम साधु, योगी ज्ञानी और महात्मा बने फिरते है, इन्ही के कारण सच्चे साधुओं को भी अनजान लोगों में कद्र नहीं है। दूध का जला छाछ को फूंक मार-मारकर पीता है, यह प्रसिद्ध कहावत है कि ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं है। क्योंकि आज साधु भेष में फिरने वाले लोगों में व्यसनी कामी, क्रोधी, लम्पट दुराचारी मनुष्य या पेशेवर धन कमाने वाले लोग बहुत हो गये हैं। लोगों को ठगने के लिए बड़ी-बड़ी बातें बनाने वाले लोग बहुत ही चालाकी से भोले-भाले लोगों को झूठी सिद्धि का चमत्कार दिखाने वाले अथवा कहीं एक-आध सिद्धि द्वारा लोगों में अपने को परम सिद्ध साबित करने वाले लोगों की आज कमी नहीं है। आज हठ-योग में अपने को सिद्ध मानने लोग रोगी, ज्ञानयोग में सिद्ध मानने वाले कामी, क्रोधी, अभिमानी, लययोग में सिद्ध मानने वाले शरीर की नाड़ियों से और आभ्यान्तरिक अवयवों से अनभिज्ञ, भक्तियोग में अपने को परम भक्त बताने वाले विषयी और कर्मयोग में अपने को सिद्ध प्रसिद्ध करने वाले सर्वथा असफल पाये जाते हैं ? और इस पर भी अपनी मान-प्रतिष्ठा जमाने या कायम रखने के लिए सिद्धई का दावा करते हैं। ऐसे लोगों से सावधान रहना चाहिए।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि आज सच्चे सिद्धि प्राप्त पुरुष हैं ही नहीं। हैं अवश्य हैं, परन्तु लोगों के सामने अपने को सिद्ध-प्रसिद्ध करके जान-बूझकर आसक्ति और स्वार्थवश कामिनि काञ्चन या मान-सम्मान चाहने वाले लोगों में तो कदाचित् ही कोई सच्चे सिद्ध हों। सिद्धि प्राप्त पुरुषों से हमारा मतलब पतञ्जलि उक्त अष्ट-सिद्धियाँ या अन्यान्य प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त कर चुके महापुरुषों से हैं। ऐसे महापुरुष यौगिक सिद्धियों या चमत्कारों की कोई फिक्र नहीं करते।

वास्तव में सिद्धियाँ परमार्थ मार्ग में बाधक ही होती हैं। जिसकी चित्त-वृत्ति भगवान की ओर नहीं लगी है, और जिसमें थोड़ी-सी विषय आसक्ति बची है, ऐसा पुरुष किसी साधन द्वारा सिद्धियाँ पा जायेगा तो इससे उसका अभिमान बढ़ जायेगा। विषयों की प्राप्ति और उनके भोगों में सिद्धियों का प्रयोग होगा जिनसे योग में बाधा पहुंचने की सम्भावना होगी। चाहे वह भ्रमवश ही हो, उनको वैरी समझा जायगा और उनके विनाशमें सिद्धियोंका उपयोग किया जायगा। परिणामतः वह साधक रावण व हिरण्यकश्यप की भाँति असुर और धीरे-धीरे राक्षस बन जायेगा। अवश्य ही सिद्धियों को पाने पर भी उनमें रंगकर, उन्हें तुच्छ मानकर लाँघ जाने वाला पुरुष भगवान् को पा सकता है। परन्तु ऐसा होना बड़ा कठिन है। अतएव परमार्थ के साधकगण ब्रह्मलोक तक का भोग और ब्रह्मा तक को सामर्थ्य प्रदान करने वाली सिद्धियों से भी अलग ही रहना चाहते हैं। सच्ची सिद्धि मे तो अन्तःकरण की वह शुद्ध स्थिति है, जिसमें भगवान के सिवा दूसरे को स्थान ही नहीं रह जाता। ऐसी शुद्धान्तःकरण रूप सिद्धि को प्राप्त करके फिर उसके द्वारा साधन करके जो भगवान को प्राप्त कर लेते हैं उन्हें परम सिद्ध कहे जाने का गौरव प्राप्त होता है।

अन्तःकरण की सम्यक् प्रकार से शुद्धि होने पर ही फिर चाहे वह शुद्धि किसी भी योग रूप उपाय से हुई हो ऐसा परमसिद्ध महात्मा भी मिल सकता है। परन्तु उनको प्राप्त करने के लिए हृदय में तीव्रता होनी चाहिए। सच्चे सत्संग के लिए जब हृदय में छटपटाहट पैदा होती जायगी जब सन्त सन्त मिलन के लिए प्राण व्याकुल हो उठेंगे जब योग जिज्ञासा रूपी अग्नि प्रबल व प्रचण्ड होकर हृदय में छिपे हुए विकारों को भस्मीभूत कर देंगी, और अपने प्रखर प्रकाश से विषयाभिलाषा रूपी तम का नाश कर देगी और सारे प्रपञ्च को जलाती हुई दौड़ेगी भगवान् की ओर तब भगवान् स्वयं व्याकुल होकर उसे बुझाने के लिए सन्त रूपी मेघ बनकर अमृतरूपी वर्षा करेंगे। अतएव किसी भी काम के लिए गुरु बनाये तो वह अनुभवी होना चाहिए। अनुभवी गुरु को पाकर भी यदि साधक को उनकी बताई हुई प्रत्येक बात को नहीं मानता तो उसे भी सफलता नहीं मिल सकती। बल्कि किसी-किसी प्रयोग में तो उल्टा नुकसान हो ही सकता है।

अतएव तुम्हें योग साधना करनी हो तो पहले चित्त में दृढ़ निश्चय करो फिर गुरु को खोजो और भगवत् कृपा से गुरु मिल जांय तब उनकी एक-एक छोटी से छोटी-सी बात को भी महत्वपूर्ण और परमावश्यक समझ कर श्रद्धापूर्वक उसका अनुसरण करो। एक बात और है, सभी साधनों का लक्ष्य मोक्ष या भगवत्प्राप्ति है। सारे ही योगोंकी गतियाँ उस एक ही परमयोग की ओर है। फिर ऐसा योग क्यों न साधना चाहिए जिसमें रुकने या गिरने का डर न हो। मार्ग में कष्ट दर कष्ट भी नहीं जो सरल, सहज हो और इसी जीवन में लक्ष्य तक पहुंचा देने वाला हो। ऐसा योग है शरणागति योग। भगवान् का अनन्य आश्रय लेकर श्रद्धा विश्वासपूर्वक भगवान् का सतत स्मरण करते हुए अपने जीवन के भगवदनुकूल सभी कर्मों के द्वारा उन्हीं की पूजा करना और जीवन को समर्पण कर निश्चिन्त हो जाना। यही शरणागति-योग है अन्य सभी योगों में विघ्न है परन्तु यह सर्वथा निर्विघ्न है अतएव इसी को परम साधन समझकर इसमें ही लग जाना चाहिए।

योग साधना में सहायक गुण

उत्साह, धैर्य, तत्वज्ञान, निश्चय, जनता के संग का त्याग, इन पांच प्रकार के गुणों से योग सिद्ध होता है। विषयों में आसक्त चित्त को रोकना है इस प्रकार के उद्यम को उत्साह कहते हैं। यह वस्तु साध्य है या असाध्य है ऐसा विचार न करके कार्य में प्रवृत्त होने का नाम साहस है। जीवन पर्यन्त कार्य सिद्ध हो ही जायगा। इस प्रकार मन के सन्तोष का नाम धैर्य है। ये विषय मृग तृष्णा के जलने के समान झूठे हैं और ब्रह्म सत्य है इस प्रकार के वास्तविक ज्ञान को तत्वज्ञान कहते हैं। अथवा योगों का वास्तविक ज्ञान तत्वज्ञान है। शास्त्र और गुरुजी के वाक्यों में विश्वास को निश्चय कहते हैं। योगाभ्यास न करने वाले लोगों का साथ न करना। प्र उपसर्ग से यह सूचित होता है कि शीघ्र सिद्ध हो जाता है। इसलिए प्रसिद्ध्यति शब्द का प्रयोग किया गया है।

अग्नि-पुत्र

—श्री देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'

'तमसो मा ज्योतिर्गमयो' का-
हम गान निरन्तर गाते हैं।
कवि अन्धकार के गीत न गा,
हम अग्नि-पुत्र कहलाते हैं !

सूरज के रथ पर चलते हैं,
सागर में आग लगाते हैं।
हम ज्योतिर्मय हैं जन-जन में,
जीवन की ज्योति जगाते हैं ॥
कवि अन्धकार के गीत न गा,
हम अग्नि-पुत्र कहलाते हैं ॥

हम दिव्य दीप्ति से दीप्तिमान,
शशि के आनन को करते हैं।
हम आसमान के तारों में—
आभा का ईंगुर भरते हैं ॥

हम ऊषा की लाली बनकर,
नित नया सवेरा लाते हैं।
कवि अन्धकार के गीत न गा,
हम अग्नि पुत्र कहलाते हैं ॥

हम ज्वालामुखी पहाड़ों को,
ज्वाला देकर भभकाते हैं।
हम यज्ञ-कुण्ड में वैश्वानर
बन, होम-धूम्र धधकाते हैं ॥

हम वन-उपवन की दावा हैं,
सङ्घर्षों में सुख पाते हैं।
कवि अन्धकार के गीत न गा,
हम अग्नि-पुत्र कहलाते हैं ॥

जब काली-काली रजनी में,
खेमे तम के तन जाते हैं।
तब राज-महल की प्रभा, दीप
हम कुटियों के बन जाते हैं।

हम होली की बन खुशी—
दिवाली पर हँस-हँस जल-जाते हैं।
कवि अन्धकार के गीत न गा,
हम अग्नि-पुत्र कहलाते हैं ॥

हम हैं द्वितीया के चन्द्र
अमा की छाती चीर निकलते हैं।
हम हैं पूनम के चाँद, चाँदनी—
से, हँस-हँस कर मिलते हैं ॥

हम नयनों की हैं ज्योति—
त्रिलोचन के लोचन बन जाते हैं।
कवि अन्धकार के गीत न गा,
हम अग्नि-पुत्र कहलाते हैं ॥

हम 'उज्जवल' हैं 'तम' हमसे ही,
मिल 'उज्जवलतम्' बन जाता है।
हम हैं कण-कण में अणु-अणु में,
हमसे बन अणु-बम आता है ॥

हम तोप-तमंचा बन्दूकों से—
शोले बन कर आते हैं।
कवि अन्धकार के गीत न गा,
हम अग्नि-पुत्र कहलाते हैं ॥

जो न्याय-धर्म के लिए जले—
हम उसी आग के अंशज हैं।
जो जाग्रत जगमग है सदैव—
उस प्राण-पुरुष के वंशज हैं।

हम हैं प्रकाश के देव, तिमिर
के, दानव को दहलाते हैं।
कवि अन्धकार के गीत न गा,
हम अग्नि-पुत्र कहलाते हैं ॥

हम उदयाचल की अरुणाई
तरुणाई तप्त प्रभाकर की।
हम हैं चपला की चमक—
दमक हैं मोती, लाल, जवाहर की ॥

हम राम-कृष्ण का तेज, ओज—
शिव का, बतलाये जाते हैं।
कवि अन्धकार के गीत न गा,
हम अग्नि-पुत्र कहलाते हैं ॥

कर्म-प्रकरण

● श्रीस्वामी हरिहरानन्द आरण्य

[लेखक 'बौद्ध-दर्शन' के प्रकाण्ड पण्डित और अभिज्ञाता हैं। पातञ्जलि योगसूत्रों के व्यास भाष्य पर की गई आपकी मीमांसा बड़ी ही प्रशंसित और बहुचर्चित मीमांसा है। प्रस्तुत लेख आपकी उसी मीमांसितकृति का एक अंश है जिसे 'सिद्धयोग' के पाठकों के हितार्थ हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं।]

—सं० सम्पादक

न कर्तृत्वं न कर्माणि,
लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं,
स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
(गीता ५/१४)

नेश्वराधिष्ठिते कर्मनिष्पत्तिः, कर्मणा तत्सिद्धेः।
(सांख्यसूत्र ५/२)

फलं कर्मायत्तं किममरगणैः,
किं च विधिना।
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि,
न येभ्यः प्रभवति॥
(शान्तिशतकम् २)

पातनिका

शरीर का धारण, उसका स्थिति काल, अवस्थान्तरता और मृत्यु एवं अन्तःकरण की सङ्कल्प-कल्पना, राग-द्वेष, सुख-दुःख इत्यादि विक्रियाएँ जो सर्व सङ्घटित हो रही हैं—ये सब हम लोग प्रत्यक्षतः देख पाते हैं। यदि जागतिक बाह्य कारण से ही ये सब संघटित होते तो प्राकृत विज्ञान से ही सब मीमांसित हो सकते थे; किन्तु देह और अन्तःकरण का परिणाम बाह्य कारण से भी जिस प्रकार होता है, आन्तर कारण से भी उसी प्रकार होता है—यह प्रत्यक्ष अनुभूत तथ्य है। ये सब कारण कितने प्रकार के हैं, वे कहाँ और कैसे रहते हैं एवं किस प्रकार वे कार्य उत्पादन करते हैं? उनके ऊपर हम लोगों का कर्तृत्व है या नहीं है, यदि है तो वह किस तरह प्रयोज्य है; इन सब अत्यावश्यक प्रश्नों की मीमांसा ही कर्म तत्त्व का प्रतिपाद्य विषय है।

केवल घटना को जानने से, घटना के कारण को न जानने से उसे नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है। ज्वर-विकार सभी का प्रत्यक्ष अनुभव योग्य घटना है, किन्तु उसका कारण न जानने पर ज्वर के प्रतिषेध की व्यवस्था नहीं हो सकती है। कर्मतत्त्व से हम लोगों के शरीर और आन्तर विकार के मूल कारण को जान पाते हैं। नरक-भोग से निर्वाण-लाभ पर्यन्त सभी जीवकर्म-सापेक्ष हैं, इसका भी प्रमाण पाते हैं।

कारण-कार्य-नियम जिस प्रकार प्राकृत विज्ञान का मूल है, कर्म-विज्ञान के मूल में भी ठीक वही नियम है। इन नियमों को अकाट्य युक्ति के द्वारा संस्थापित करना ही कर्मवाद का विशेषत्व है। इसीलिए कर्मवाद में अन्ध-विश्वास, नास्तिकता अथवा भाग्यवाद का स्थान नहीं है।

स्मरण रखना होगा कि सभी विज्ञानों में जिस प्रकार साधारण नियम स्थापित किया जाता है। कर्म-विज्ञान में भी उसी प्रकार कर्म और उसके विपाक का साधारण नियम ही कहा जाता है। जलीय वाष्प से मेघ होता है एवं मेघसे पानी बरसता है। यह साधारण नियम ही विज्ञान से प्राप्तव्य है, किन्तु किस जगह किस समय कितना वर्षण होगा—यह कहना असाध्य है अर्थात् इसके लिए इतना अधिक कारण जानना होगा, जिनको जानना समय का अप-व्यवहार मात्र ही होगा। इसी प्रकार कर्मवाद में भी साधारण नियम ही निर्देशित होता है। लेकिन जीवन-पथ पर चलने के लिए उस विषय का जितना ज्ञान आवश्यक है उतना हम लोग कर्मवाद से यथेष्ट रूप में पा सकते हैं।

जिन मुमुक्षुओं के हृदय में यह अध्यात्म कर्म-विज्ञान सुप्रतिष्ठित है, वे ही यथार्थ आत्म-नियन्ता होते हैं या उपनिषद् की भाषा में स्वाट् होने की उपयोगिता लाभ करते हैं।

(१) लक्षण

१—अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रि और प्राण इन सबकी जो नियत क्रिया हो रही है (ज्ञान, इच्छा, स्थिति या देह-धारणादि ही यह करण क्रिया है), जिससे उनकी अवस्था-न्तरता होती है वह कर्म है। यह क्रिया दो प्रकार की है—(१) प्राणी जो चेष्टा स्वतन्त्र इच्छापूर्वक करता है अथवा किसी करणवृत्ति की प्ररोचना से करता है। (२) जो क्रिया अविदित भाव से होती है अथवा प्राणी जो क्रिया किसी प्रबल कारणों के सम्पूर्ण अधीन होकर करता है अथवा इच्छा अनधीन बाह्य कारणों के द्वारा प्ररोचित होकर प्राणियों की जो करण-क्रिया होती है। प्ररोचना से करना प्रवृत्ति को दमन करने की थोड़ी-बहुत चेष्टा करना—प्रवृत्ति को दमन करने की चेष्टा करना।

२. प्रथम जातीय क्रिया का नाम है—पुरुषकार। द्वितीय जातीय क्रिया का नाम है अदृष्ट-फल कर्म या आरब्ध कर्म एवं यदृच्छा। जिस क्रिया को कर भी सकते हैं, न भी कर सकते हैं, वह पुरुषकार है; और जो चेष्टा स्वरसाही है या जो करना ही पड़ेगा उसका नाम है—आरब्ध या अदृष्ट-फल कर्म। मानवों की अनेक मानसिक चेष्टाएँ पुरुषकार हैं एवं पशुओं की अनेक चेष्टाएँ आरब्ध कर्म या भोग है। सहज प्रवृत्ति का अतिक्रम करके जो चेष्टा की जाती है, वही पुरुषकार है।

इच्छा ही प्रधान कर्म है। "ज्ञानजन्या भवेदिच्छा" अर्थात् इच्छा होने के लिए इच्छा के विषय का रूप एक ज्ञेय भाव का ज्ञान (स्मरणजनित ज्ञान अथवा नूतन ज्ञान) चाहिए, मानस विषय (कल्पना) से युक्त उस इच्छा का नाम संकल्प है। इच्छा के द्वारा भी पुनः ज्ञान और संकल्प उठ सकते हैं। यह भी देखा जाता है कि इच्छा के द्वारा भी सभी शरीरेन्द्रियों की क्रिया होती है। इनमें ज्ञानेन्द्रियों के साथ मनःसंयोग का नाम अव-धान है। कर्मेन्द्रिय और प्राण के साथ मनः-संयोग का नाम कृति है। प्राण की अपरि-दृष्ट चेष्टा भी मनःसंयोग से होती है। श्रुति भी कहती है "मनोकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे।"

मन में स्वतः जो चिन्ता-प्रवाह (ज्ञान-कल्पनादि) चल रहा है उसका भी जब योगज इच्छाके द्वारा रोध किया जाता है तब कहना होगा कि वह भी इच्छामूलक है। कोई भी इच्छा पुनः-पुनः करते रहने से वह अस्वाधीन इच्छा में परिणत होती है। कर्मेन्द्रिय और प्राण की स्वतः चेष्टाओं का भी हठयोग के द्वारा इच्छापूर्वक रोध किया जा सकता है। अतः वे सब अस्वाधीन चेष्टा होने पर भी फलतः इच्छा के अनधीन नहीं है। इस प्रकार इच्छा ही प्रधान कर्म है। वह इच्छा पूर्व-संस्कार-विशेष से जब (या जितनी) हम लोगों के अनधीन होकर कार्य करती रहती है तब वही अदृष्ट या भोगभूत कर्म कहलाता है और वह इच्छा जब (अथवा जितनी) हम लोगों के अधीन होकर अर्थात् संस्कार का अतिक्रम करके कार्य करती है, तब वह पुरुष-कार रूप कर्म है।

फलतः इच्छा ही कर्म का उपादान या कर्म का मूल स्वरूप है, जिस प्रकार मिट्टी घटादि का उपादान है, इच्छा नियत कर्म रूप में परिवर्तित होने पर भी प्राणियों की तरह अनादि काल से विद्यमान है।

भोग शब्द दो अर्थों में व्यवहृत होता है— एक—अस्वाधीन चेष्टा-समूह, और—सुख-दुःखभोग। पूर्व संस्कार के सम्यक् अधीन चेष्टा ही भोगरूप कर्म है। उसका नाम भी कर्म है, किन्तु पुरुषकार ही मुख्य कर्म के रूप में गृहीत होता है। भोगरूप ये क्रियाएँ (हृत्पिण्ड आदि की क्रियाएँ) जाति नामक आरब्ध कर्मफल के अन्तर्गत हैं, अतः वे सभी कर्मफल भोगविशेष की सहभावी चेष्टाएँ हैं।

३—गुणत्रय के चलत्व हेतु सभी भूत और करण नियतरूप से परिणत होते जा रहे हैं, यही परिणाम का मूल कारण है। करणसमूह गुणत्रय के विशेष-विशेष संयोगमात्र हैं। परि-णाम का अर्थ है—उस संयोग का परिवर्तन। उनमें अस्वाधीन स्वारसिक परिणाम ही भोग या अदृष्टफल चेष्टा या पूर्वाधीन आरब्ध कर्म है।

देहधारण के कारण इच्छापूर्वक अवश्य कार्य जो चेष्टासमूह करने पड़ते हैं, वे भोग भूत आरब्ध कर्मके उदाहरण हैं। हृत्पिण्डादि की क्रिया की तरह स्वतः इच्छा के अनधीन शरीर क्रिया-समूह जातिरूप कर्मफल के अन्तर्गत कर्म है।

४—पुरुषकार के द्वारा स्वाभाविक परि-णाम को द्रुत, नियमित अथवा भिन्न पथ में चलाया जाता है। जिस प्रकार आलोक और अन्धकार का सन्धि-स्थल निर्विशेष रूप से मिलित है, उसी प्रकार पुरुषकार एवं स्वार-सिक कर्म के भी बीच का व्यवधान अनिर्णेय है; मगर दोनों पार्श्व विभिन्न हैं।

५—ये कर्म पुनः दो प्रकार के हैं—दृष्ट-जन्म-वेदनीय और अदृष्टजन्म-वेदनीय। यह विभाग फल के समय के अनुयायी है। जो वर्तमान जन्म में कृत हुआ है एवं जिसका फल वर्तमान जन्म में आरूढ़ होता है, वह दृष्टजन्म-वेदनीय है। जिसका फल भविष्यत् जन्म में आरूढ़ होगा, वह अदृष्टजन्म-वेदनीय है। इस तरह का कर्म वर्तमान जन्म का अथवा पूर्व जन्म का हो सकता है।

६—सुख-दुःख रूप फल के अनुसार कर्म चार भाग में विभक्त हैं, यथा—शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण एवं अशुक्लाकृष्ण। सुखफल कर्म शुक्ल है, दुःखफल कर्म कृष्ण है, मिश्रफल कर्म शुक्ल-कृष्ण है, एवं अशुक्लाकृष्ण कर्म सुख-दुःख-शून्य शान्तिफल है।

प्रारब्ध, क्रियमाण और संचित इन तीन प्रकारों से भी कर्म विभक्त होता है। जिसका फल आरब्ध हुआ है, वह आरब्ध है; जो वर्तमान जन्म में कृत हो रहा है वह क्रियमाण है एवं जिसका फल वर्तमान जन्म में आरब्ध नहीं हुआ है वह संचित है।

(२) कर्म-संस्कार

७--प्रत्येक कर्म की अनुभूति का छाप अन्त करण की धारिणी शक्ति के द्वारा विधृत होकर रहता है। कर्म के इस आहित अवस्था का नाम संस्कार है। मान लो कि किसी ने एक वृक्ष देखा, पीछे आँख मून्दकर वह उस वृक्ष की चिन्ता करने लगा। इससे सिद्ध होता है कि वृक्ष देखने के बाद अन्तःकरण में उस वृक्ष का अनुरूप भाव धृत होकर रहता है। हस्तादि की चेष्टाका भी उसी प्रकार आहित भाव रहता है। साधारणतः कर्म का संस्कार भी कर्म नाम से अभिहित होता है।

८—यह अन्तर्निहित सूक्ष्म भावही संस्कार है। सभी अनुभूत विषय संस्कार रूप में रहते हैं, इस कारण ही उनका स्मरण होता है। यदि यह कहा जाय कि किसी-किसी विषय का स्मरण नहीं भी होता है तो यह विस्मृत होना उस नियम का अपवाद मात्र है। चित्त की धृति शक्ति के द्वारा समस्त विषय ही धृत होते हैं; विस्मृति का कारण रहने पर किसी-किसी स्थल पर उस धृत विषय का स्मरण नहीं होता है। विस्मृति के कई कारण हैं यथा (१) अनुभव की अतीव्रता, (२) दीर्घकाल, (३) अवस्थान्तर-परिणाम, (४) बोध की अनिर्मलता, (५) उपलक्षण का अभाव। विस्मृति का कारण न रहने पर अर्थात् तीव्र अनुभव, स्वल्प काल, सदृश चित्तावस्था निर्मल--विशेषतः समाधि-निर्मल बोध तथा उपलक्षण, इनमें किसी एक अथवा अनेक कारण विद्यमान रहने पर समस्त अन्तर्निहित विषयों का स्मरण हो सकता है।

९--जीव जिसप्रकार अनादि है उसी प्रकार यह संस्कार भी अनादि हैं। संस्कार द्विविध है—केवल स्मृतिफलक या स्मृतिहेतु एवं जाति, आयु तथा भोगफल या त्रिविपाक। जिस संस्कार के द्वारा जाति, आयु और भोग की स्मृति कोई भी एक विशेष आकार को प्राप्त करती है अर्थात् जिसके द्वारा आकारित होकर विशेष प्रकार की जाति, आयु और भोग होते हैं, वह स्मृति-हेतु है और जो संस्कार अभिसंस्कृत करणशक्ति स्वरूप होकर वह चेष्टाओं का कारणस्वरूप होता है एवं करणवर्गों की प्रकृति को अल्पाधिक परिवर्तित करता है वह त्रिविपाक हैं।

स्मृति-मात्र फल उस संस्कार का नाम वासना है। यह जाति, आयु और भोग—इन त्रिविध कर्मफलों के अनुभव से होता है। त्रिविपाक संस्कार का नाम कर्माशय है। पुरुषकार और भोगभूत अस्वाधीन कर्म, ये दोनों ही त्रिविपाक हैं।

तुलसी काया खेत है, मनसा भयौ किसान।
पाप-पुण्य द्वै बीज हैं, बुवै सु लुनै निदान॥

जिन पाया तिन रोय

श्री [illegible]

'जिन पाया तिन रोय' कबीर के इसी अन्तर-भाव को खोलकर समझा रहे हैं, विद्वान् लेखक अपने इस लेख में।

—सं० सम्पादक

ईश्वरीय मार्ग पर चलने वालों की श्रेणियाँ कई प्रकार की होती है। एक श्रेणी उन लोगों की है जो इरादा ही करते रहते हैं और साधना मार्ग में कदम नहीं रख पाते। दूसरे वे लोग है जो जोश में आकर कुछ काम तो शुरु कर देते है किन्तु कुछ ही दिनों में छोड़कर अलग हो जाते है। तीसरी श्रेणी में वे लोग आते है जो कुछ दिन बड़े शौक और परिश्रम से चलते हैं किन्तु जरा-सा धक्का लगते ही या जिन आशाओं को लेकर उन्होंने यह काम प्रारम्भ किया था वह जब पूरा होता दिखाई नहीं देता तो घबड़ा के लौट पड़ते हैं और साधना पथ को ही धोखा जाल बताने लगते है। इन सबसे अलग एक और श्रेणी है जो हजार मुसीबतें आयें उनकी खाल तक खींच ली जाये कोल्हू में दबा के उनका तेल तक निकाल लिया जाय तो भी ऐसे इरादे के पक्के होते है कि मुँह नहीं मोड़ते। वह दिल में ठान लेते है कि इश्क की मंजिल में मुसीबतें तो सहनी ही है, प्यारे की परीक्षा में उत्तीर्ण तो होना ही है फिर क्यों घबराएँ खुशी से उनको क्यों न सहन करें। वह जिस बात से खुश हों चाहे वह हमें पसन्द हो या न हो उसीको करना और दिल में जरा भी संकोच न लाना 'राजी ब रजा' का साधन है। बस ! यह वह साधन है जो मालिक को खुश करता है, मालिक के समीप ले जाके खड़ा कर देता है। उसका प्यारा बना देता है। इन लोगों का सिद्धान्त ही यह होता है "राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है।"

यह मार्ग कल्याणकारी तो है मगर प्रारम्भ में बहुत कष्ट देने वाला भी है किन्तु यही कष्ट यही दुःख तो प्रियतम के दरबार तक पहुंचाने वाले है। रोना, बिलखना, तड़पना और कष्ट होने पर भी आह न निकालना, धक्के खाते हुए भी उधर से मुँह न मोड़ना यही तो उसकी प्राप्ति के साधन है। इनसे वह रीझता है। दुःखों को खुशी से सहन करना और उफ तक जुबान पर न लाना, यही बातें तो उसके कलेजे में दर्द पैदा करती है जो हम सबके बीच विराजमान है जो हम सबका सर्वस्व है। जैसे मेंहदी के पत्ते जब पत्थर पर पीस लेते है तभी वह रंग लाते हैं।

"रंग लाती है हिना
पत्थर पं पिस जाने के बाद।"

महान् सन्त कबीर ने भी कहा है—

हँस-हँस कन्त न पाइया
जिन पाया तिन रोय ।
हँसी खुशी जो पिय मिलें
कौन दुहागिन होय ।।

यही मार्ग अन्त में सारे कष्टों से छुड़ा कर प्रभु की आनन्दमयी गोद में सुलाता है। सच्चे भक्त और दृढ़ निश्चयी साधक कष्टों से भी नहीं घबराते अपितु उनका स्वागत करते हैं क्योंकि कष्ट भी प्रभु के भेजे हुए ही आते हैं।

महात्मा शिवली अपनी सुबह की प्रार्थना में कहा करते थे—"मेरे मालिक। चाहे तु सातों आसमान का तौक बनाकर मेरे गले में डाल दे चाहे सारी पृथ्वी की बेड़ियाँ बना मेरे पाँव में जकड़ दे और चाहे सारे जहान को मेरे खून का प्यासा करदे पर अपनी मुहब्बत को मेरे दिल से दूर मत कर। बस इतना ही मैं चाहता हूँ।" यही है सच्चे भक्तों की प्रार्थना। वह किसी हालत में रहें, कोई भी उन्हें कष्ट हो उसकी चिन्ता न करते हुए, सुख-दुःख में समानता रखते हुए उनसे उन्हीं के प्रेम की भिक्षा मांगा करते हैं।

उच्च कोटि के प्रेमी भक्तों को दो श्रेणियों में देखा जा सकता है :—

(१) एक ऐसे भक्त होते हैं जिनको हर समय और हर स्थान पर सारे सुख उपलब्ध रहते हैं। जिस वस्तु की उन्हें इच्छा होती है जिस पदार्थ की उन्हें आवश्यकता होती है उसका फौरन ही कहीं न कहीं से प्रबन्ध हो जाता है। उनका जीवन सुख का जीवन होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा है—

"तेषां नित्याभियुक्तानां
योगक्षेमं वहाम्य हम् ।"

ऐसे भक्तों को जिनको मेरा ही आसरा रहता है और दूसरों की ओर वे कभी देखते तक नहीं, विचार तक नहीं करते उनकी सदैव मैं रक्षा करता हूँ जो कुछ उनके पास मौजूद होता है उसकी रक्षा करता हूँ और जिसकी उन्हें जरूरत है उसे पहुँचाता हूँ।"

(२) दूसरी श्रेणी में वे प्रेमी भक्त आते हैं जिन्हें कष्ट दिए जाते हैं, उन्हें खूब कसा जाता है। उनके बने हुए काम को बिगाड़ दिया जाता है, आई हुई वस्तु को छीन लिया जाता है। ऐसे भक्त जो इच्छा करें उसका उल्टा ही नतीजा दिखाई देगा। इनकी ऐसी दशा होती है कि प्यास से तड़पते हुए दरिया के किनारे चले जाँय ;तो दरिया भी सूख जाय। यही तो माशूक की अदा है, प्रेम का मजा है। लैला ने मजनूं को अनेक कष्ट दिये, खून तक जिस्म का निकलवाया पर मजनूं ने खुशी से उसके लिए सब कुछ सहन किया। यही प्रेम है। माशूक की ओर से आये हुए कष्टों को सहर्ष सहन करे और उफ तक न करे यही सात्विकी तप है। इससे आत्मा निर्मल बनती है, संस्कार कटते हैं और पाप जलकर भस्म हो जाते हैं।

आजकल के भक्तों की अजीब हालत है, जहाँ कोई काम बिगड़ा या जरा-सा कष्ट हुआ, सब कुछ छोड़कर अलग हो जाते हैं और गुरु या ईश्वर की बुराई करने लगते हैं। आजकल अधिकांश यही देखने में आता है कि लोग इसीलिए शरण में आते हैं कि उनकी नौकरी लग जावेगी, उन्हें रुपया मिल जायेगा। रोजगार खूब चलेगा। लड़के परीक्षा में पास होने की नीयत से आते हैं। यदि परिश्रम न करने से फेल हो जाते हैं तो फिर ईश्वर को मुँह नहीं करते। कोई-कोई सन्तान प्राप्ति की इच्छा से या पुत्री की

शादी की इच्छा लेकर शरण में आते हैं। कई यह विचार करके चलते हैं कि अब हम दोनों समय भजन ध्यान करते हैं, गुरु की शरण में हैं, सत्संग में आते हैं आज से न तो हमारे घर में कोई बीमार होगा, न किसी की मृत्यु होगी। और यदि कोई घटना इनमें से घट गई तो फिर भजन व सत्संग दोनों को लात मारते हैं। इनमें से कोई भक्त नहीं है। ये सब ईश्वर के लिए नहीं आते अपितु सुखों की इच्छा लेकर इस मार्ग को पकड़े हैं। जहाँ अपने लिये कोई इच्छा नहीं है, पूर्ण निष्कामता और समर्पण है वही वहाँ पहुँचेंगे। उन्हीं के लिए सब सुख है। यदि उस अगम्य स्थान तक पहुँचने की चाहना है तो लोक और परलोक के दोनों स्वार्थ उठाकर अलग रख दो और उनकी शरण में चले जाओ और उनके ऊपर ही अपने को छोड़ दो—सब कुछ प्राप्त हो जायेगा। जरा हम ऐसा करके तो देखें, उनकी कृपा से इस भव सागर की भँवरों से उछलते-कूदते कितनी सरलता से हम सब पार लग जायेंगे। हम स्वयं देखकर आश्चर्य करेंगे।

अन्त में प्रार्थना है कि जहाँ तक हो सके तकलीफ को सहते रहो। उनसे मत कहो। उनसे रूहानी रिश्ता, रूहानी फायदे के लिये जोड़ा है न कि दूसरे सारे कष्टों का ठेका है। हाँ जब सहनशक्तिसे बाहर हो जाय तो उनसे कहो। उसी क्षण दूर हो जायेगा। उनसे कुछ छिपा हुआ नहीं है। हम सबके आराध्य, सर्वसमर्थ प्यारे गुरुदेव अपने बच्चों की हर समय खबरगीरी रखते हैं चाहे वे कितने ही दूर क्यों न हों। यह नितान्त सत्य है।

आश्चर्य !

हमारा शरीर तो पुष्ट है, परन्तु जीवन निर्बल। हमारे दांत तो कठोरतम वस्तु को चबा सकते हैं, परन्तु क्रोध को नहीं पीस सकते। जब मनुष्य को क्रोध आता है तब दांत पीसने लग जाता है। यह एक प्राकृतिक नियम है। वास्तव में इसका उद्देश्य तो यह था, कि वह क्रोध को वहीं चबा डालें। हमारी जिह्वा तो कोमल है परन्तु हमारा बोल नरम नहीं। हमारी दाढ़ें तो प्रकृति ने सीमेंण्ट से बड़ी दृढ़ की है, परन्तु हमारा ब्रह्मचर्य वीर्य सीमेंण्ट की भाँति नहीं। हमारे नेत्रों की भवें तो झुकी हुई स्वाभाविक हैं और सुन्दर हैं दोनों ओर से काली होते हुए भी अपना मध्य-स्थान जो उनका दिल कहलाता है। रिक्त: स्वच्छ और पवित्र है, परन्तु संसार के दो पाटों में हमारा जीवन पवित्र नहीं।

—प्रभु आश्रित

कर्म-मीमांसा

डॉ० बदरीनारायण पञ्चोली

[डा० पञ्चोली श्री लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली के प्रवाचक और भारतीय दर्शन विधा के सुविख्यात लेखक हैं। 'सिद्धयोग के पाठकों को निश्चय ही कर्म मीमांसा पर लिखा यह लेख ज्ञानवर्द्धक और उपादेय सिद्ध होगा।
—सं० सम्पादक]

"कर्मेति मीमांसकाः" महाकवि कालिदास के शब्दों में कर्म की इतनी महत्ता स्वीकृत की गयी है कि मीमांसा दर्शन के आचार्यों ने कर्म को ही परमात्मा माना है। "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" चाहे हम शुभ कर्म करें या अशुभ, उसका फल तो हमें सुनिश्चित रूप से भोगना ही पड़ता है।

"कर्म प्रधान विश्व रचि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा॥"

इस चौपाई के द्वारा गोस्वामी तुलसीदास ने भी कर्म के प्राधान्य को स्वीकृत किया। "न जातु तिष्ठत्यकर्मकृत" अर्थात् कोई भी प्राणी कभी भी विना कर्म किये रह ही नहीं सकता। इस वचन के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्म की अपरिहार्यता बतलायी है। इस तरह हम देखते हैं कि सभी शास्त्रों में कर्म की महत्ता को माना गया है।

कर्त्ता के द्वारा विधीयमान कर्त्तव्य पालन से सिद्ध होने वाला इष्ट कार्य ही कर्म कहलाता है। पाणिनी का सूत्र है "कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म" जिसकी वृत्ति वरदराजाचार्य ने लिखी है "कर्त्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।" भाव यह है कि कार्य करने वाले की क्रिया के द्वारा प्राप्त करने योग्य परमाभिप्रेत फल जिसके लिए वह क्रिया में प्रवृत्त हुआ वह कर्म कहा जाय।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा
फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा
ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

इस श्लोक के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्त्तव्य का पालन निःस्पृह भाव से करने का आदेश देते हैं तथा निष्कर्मण्यता एवं कर्मफलस्पृहा से बचते हुए निष्काम कर्मयोगी होने का सन्देश निखिल संसार को प्रदान करते हैं।

वस्तुतः आत्मज्योतिके अतिरिक्त निखिल सृष्टि त्रिगुणात्मिका है केवल आत्म तत्व ही निर्गुण है। सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। इन गुणों में क्षोभ होते ही सृष्टि का श्रीगणेश होता है तथा महत् तत्त्वादि क्रम से सम्पूर्ण सृष्टि बनती है। "प्रकाश प्रवृत्ति नियमार्थ" इस ईश्वर कृष्णकृत् कारिकांश से स्पष्ट होता है कि सत्व गुण का मुख्य प्रयोजन ज्ञानात्मक प्रकाश प्रदान करना है तथा रजोगुण का मुख्य कार्य प्रवृत्ति करवाना क्रियाशीलता और तमोगुण का कार्य सतत् क्रियाशीलता के प्रभाव से

सृष्टि समाप्त न हो जाये एतदर्थ नियम न करना तथा विश्रान्ति प्रदान करवाना। इसीलिए संसार में एक क्षण भी प्राणी निष्क्रिय नहीं रह सकता। यद्यपि बाह्येन्द्रिय व्यापार कभी होते हैं और कभी नहीं होते किन्तु जिस समय बाह्य दृष्टि से हम कुछ नहीं कर रहे होते हैं उस समय भी "चलञ्च गुणवृत्तम्" के अनुसार चंचलता गुणों का स्वभाव है, क्योंकि सभी गुण एक दूसरे के साथ मिलकर ही रहते हैं तथा बाह्याभ्यन्तरिक निखिल क्रियाओं का सम्पादन करते रहते हैं। "अन्योऽन्याश्रयाभिभवजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः" क्योंकि गुण एक-दूसरे के सहारे रहते हैं, एक का प्राधान्य होने पर दूसरे दोनों उससे अभिभूतावस्थापन्न गौण हो जाते हैं किन्तु सत्ता तीनों की सदा साहचर्यभाव से रहती ही है। इसीलिए सम्पूर्ण सृष्टि में जितना भी सृजन होता है वह इन तीनों गुणों के मिलकर कार्य करने के कारण सर्वथा त्रिगुणात्मक ही होता है।

विश्व में कर्म के प्राधान्य का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि यह संसार ही रजोगुण प्रधान है। भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं कि

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था
मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो
गच्छन्ति तामसाः॥

अर्थात् जो सत्त्वगुण विशिष्ट सूक्ष्मशरीरावच्छेदकत्वेन विद्यमान प्राणी सत्कर्म करते हैं वे निश्चित भूलोक से ऊपर वाले भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक तपोलोक एवं सत्यलोक, इन छः लोकों में से अपने-अपने कर्मों के अनुसार प्राप्तव्य लोक को पा लेते हैं। तथा पाप कर्म करने वाले तमोगुण विशिष्ट लिङ्गशरीरावच्छेदकत्वेन स्थित चेतन तत्त्व जीवात्मा भूलोक के नीचे स्थित अतललोक, वितललोक, सुतललोक, तलातललोक, रसातललोक, महातललोक एवं पाताललोकों में से अपने कर्मों के अनुसार प्राप्तव्य किसी लोक को प्राप्त करता है। किन्तु रजोगुण विशिष्ट भोगशरीर वाले जीवात्मा को तो भूलोक में ही पुनर्जन्म लेकर रहना पड़ता है। इसीलिए स्वाभाविक रूप से भूमण्डल पर रजोगुण का बाहुल्य है और रजोगुण का अपना काम ही प्रवृत्त्यात्मक है, तथा किसी का प्राधान्य होने पर वह अपना प्रभाव प्रकट नहीं करे ऐसा हो नहीं सकता। यही कारण है कि संसार में कर्म की अनवरतता स्वीकृत की गयी है।

संसार का हर प्राणी सानन्द सहज भाव से अपने पूर्व जन्मार्जित कर्मों के अनुसार प्राप्त जन्म, आयु एवं भोगों का फल भोग सके तथा अन्य व्यक्तियों के भोग में बाधक नहीं हो सके इसीके लिए सम्पूर्ण शास्त्रों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्देश समाधिगत होता है। "अशास्त्रविहितङ्कर्म कुर्वन्प्राप्नोति किल्बिषम्" भाव यह है कि शास्त्रमें जिस कर्म को करने का जिसके लिए विधान नहीं किया गया हो ऐसे कर्म को करने वाला प्राणी पापको प्राप्त करता है। हम रोजमर्रे के जीवन में भी देख सकते हैं कि यदि किसी व्यक्ति को किसी काम को सम्पन्न करने हेतु नियुक्त किया जाय और वह व्यक्ति उस कार्य को सम्पन्न नहीं करता तथा अन्य कोई काय स्वेच्छा से करने लगता है तो उसका नियन्ता उससे अप्रसन्न होकर उसे पदावनत कर देता है, और जो व्यक्ति अपने निर्दिष्ट कर्त्तव्य कर्म को विधिपूर्वक पूर्ण कौशल से सम्पन्न कर

देता है उस व्यक्ति से प्रसन्न होकर उसका नियोक्ता उसे सुनिश्चित रूप से पदोन्नत करता है और जो व्यक्ति सामान्य रूप से निर्धारित कार्य को करता रहता है उसे न पदावनत करता है और न पदोन्नत ही। अपितु यथावद् यथास्थान बनाये रखता है। ठीक इसी प्रकार से परमात्मा भी शास्त्र-विहित कर्मों को यथा समय यथाविधि पूर्ण सात्विकता से सम्पन्न कर लेने वाले पुण्यात्माओं को भूलोक से ऊपर वाले छहों लोकों में कर्मानुसार प्रोन्नत कर देता है तथा शास्त्र की मर्यादा भ्रष्ट करके कर्त्तव्य कर्म पराङ्-मुख रहने वाले प्राणियों को नाराज होकर भूलोक के नीचे वाले सात लोकों में कर्मानुसार पदान्वत करता है, तथा सामान्य रूप से शास्त्रविहित कर्म करने वाले रजोगुण विशिष्ट प्राणियों को सांसारिक जन्म-मृत्यु मय आवागमन के चक्कर में कर्मानुसार बनाये रखता है। भगवान् स्वयं विश्ववन्द्य अनूठे ग्रन्थरत्न श्रीमदभगवद्गीता में कहते हैं कि—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः"

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चातुवर्ण्य का निर्माण मैंने स्वयं वैशिष्टयों तथा कर्मों के विभागों के अनुसार बनाया है। हम चाहे कितना ही प्रयास कर जो कर्म है उनकी सम्पन्नता के लिए चार वर्गों में बंटना नितान्त आवश्यक है। उसके बिना संसार की व्यवस्था चल ही नहीं सकती। उदाहरणार्थ एक न्यायालय की प्रक्रिया को ही लें तो स्पष्ट हो जाता है कि न्यायाधीश स्वयं सभी मुकद्दमों की फायलों को भी सम्भाले, स्वयं ही वकीलों की बहस को एकाग्रचित्त होकर सुने तथा सही-सही निर्णय दे सके यह कठिन है। इसलिए उसे समपेक्षित मुकदमों को यथाक्रम प्रस्तुत करने हेतु पेशकार अवश्य रखना पड़ता है। पेशकार के लिए भी लिपिक के बिना फाइलें व्यवस्थित रखकर प्रस्तुत कर सकना असम्भव है तथा बिना चतुर्थ श्रेणी न्यायाधीश के सामने उपस्थिति अपेक्षित है बतलाना कठिन है।

कहने का भाव यह है कि संसार को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए भगवान् ने कर्मानुसार नितान्त अपेक्षित चार वर्ण बनाने तथा प्रत्येक के लिए कर्त्तव्य कर्म का निर्देश किया जो जिसके लिए कर्त्तव्य कर्म है वही उसका शास्त्रविहित कर्म है।

भगवान् श्रीकृष्ण भगवद्गीता में लिखते हैं कि—

शमो दमस्तपः शौचं
क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं
ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

जिसका भाव यह है कि—ब्राह्मण मात्र के लिए स्वाभाविक रूप से सन्तोषी होना जितेन्द्रिय होना, तपस्वी होना, मन में, वचनों में तथा कर्मों में पूर्ण पवित्रता रखना, सहनशील होना, सर्वथा नम्रता रखना व सरल प्रकृति होना, तत्वज्ञानी होना तथा ज्ञान के अनुरूप साधना करके तत्वों का साक्षात्कार करते हुए विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न होना और इन सभी विशेषताओं के साथ-साथ वेदों तथा वैदिक "मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि" आदि आज्ञाओं के प्रति पूर्ण श्रद्धापूर्वक निष्ठा रखना एवं उनका यथाविधि पालन करना ब्रह्मकर्म कहलाता है, इस कर्त्तव्य का पालन नहीं करने पर पाप का भागी होता है। यदि आज भी उपर्युक्त वैशिष्टयों से युक्त स्वकर्त्तव्य पालन तत्पर

कोई कर्मठ ब्राह्मण उपलब्ध हो तो उसकी आराधना करने के लिए संसार सन्नद्ध रहता है किन्तु खेद है कि पूर्णतः नहीं अपितु आंशिक रूपसे भगवत्प्रतिपादित ब्रह्मकर्म तत्पर ब्राह्मण भी सुदुर्लभ है। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम एतदर्थ प्रयास करें कि यावच्छक्य अधिकाधिक अपने लिए निर्दिष्ट कर्म को सम्पन्न कर भगवदनुग्रह की सत्पात्रता प्राप्त करने हेतु प्रयास अवश्य करें। भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि—

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।

भाव यह है कि कोई भी प्राणी यदि अच्छे मार्ग पर लग जाता है तो उसकी सद्गति होती है भला करने वाले का अन्ततोगत्वा भला ही होता है उसकी कभी भी दुर्गति नहीं हो सकती। इसीलिए भगवान् ने स्पष्ट किया है कि—"अनेक जन्मसंसिद्धिस्ततोयाति परां गतिम्" साधना में लग जाने वाला व्यक्ति उत्तरोत्तर अपने सन्मार्ग पर अग्रसर होता रहता है तथा एक जीवन में नहीं तो दूसरे जीवन में, दूसरे में नहीं तो तीसरे जीवन में या इसके भी पश्चात् भावी किसी भी जीवन में सही, वह उत्कृष्ट गति अर्थात् मोक्ष को अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार से सांसारिक प्राणी गंगा स्नान के लिए उसके सही रास्ते पर चल पड़ता है तो वह धीरे-धीरे चलता हुआ भी किसी न किसी दिन अपने लक्ष्य गङ्गा स्नान से लाभान्वित हो ही जाता है, तथा यदि वह गन्तव्य स्थान की दूरी का विचार करके तदर्थ प्रवृत्त ही नहीं होता है तो वर्षों तक भी उससे वञ्चित ही रहता है। उसी तरह से मुमुक्षु साधक भी सुदृढ़ विचार करके मुक्ति मार्ग में लग जाता है तो शनैः शनैः जन्म-जन्मान्तरार्जित दुष्कर्मों के क्षीण होने पर मानव मात्र के परम लक्ष्य मुक्ति लक्ष्य को सुनिश्चित रूप से प्राप्त कर ही लेता है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं
युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च
क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं
वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म
शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः
संसिद्धिं लभतेनरः।

श्रीमद्भगवद्गीता के उपर्युक्त श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण ने क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों के कर्त्तव्य कर्मों का निर्देश किया है अर्थात् क्षत्रिय मात्र का स्वाभाविक रूप से शूरवीर होना, तेजस्वी होना, धैर्यशाली होना पूर्ण चातुर्यपूर्वक राज्य का संचालित करना युद्ध की भीषण स्थितियों में भी अपनी जान बचाकर न भागना तथा देश एवं देशवासियों की सुरक्षा प्रदान करना, अनावश्यक सङ्कलन नहीं करते हुए देश की अभ्युन्नति एवं नागरिकोंके सार्वजनिक हितार्थ विभिन्न संस्थाओं व व्यक्तियों को अभिप्रेत दान देना, ईश्वर की सत्ता एवं उपास्यता के विषय में सर्वथा देवविषयक रतिभाव रखना सच्चे क्षत्रिय की पहिचान है। भाव यह है कि क्षत्रिय के लिए उपर्युक्त कर्त्तव्य कर्म का विधिपूर्वक पालन किया जाना सर्वथा समभिप्रेत है। ऐसे क्षत्रिय के हाथ में ही देश की सर्वाङ्गीण सुरक्षा सम्भव है।

इसी प्रकार से कृषि कर्म करना, गोपालन-कर्म करना एवं सम्पूर्ण भूमण्डल पर जहाँ-जहाँ जो-जो भोग्य पदार्थ समधिक मात्रा में समधिगत होते हैं उन्हें जहाँ-जहाँ उनकी आवश्यकता हो वहां-वहां पहुँचाकर निखिल सांसारिकों की सुव्यवस्था करना इस तरह का व्यापार कर्म ही वैश्य का शास्त्र-विहित कर्म होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य इन तीनों वर्णों की समपेक्षित सेवा करते हुए ब्राह्मण को पुण्य कर्म करने योग-दान कर पुण्य का भागी होना क्षत्रिय को पूरे देश की सुरक्षा हेतु सेवा करते हुए देशवासियों की सुरक्षा से प्राप्त होने वाले पुण्य का लाभ प्राप्त करना तथा वैश्यों द्वारा क्रियमाण कृषि, गोपालन एवं व्यापार में योगदान करते हुए सभी सांसारिकों को यथास्थान यथापेक्षित वस्तु उपलब्ध करवाने के व्यापार कर्म में योगदान करते हुए निखिल व्यवस्था में सह-भागी बनना शूद्र का स्वाभाविक कर्तव्य कर्म है।

जिस तरह से अपने शरीर में शिर बाहु, मध्यभाग एवं पैर विभिन्न सेवाओं द्वारा अपनी जीवन यात्रा को सहज बनाते हैं। उसी प्रकार से चारों वर्ण अपने कर्तव्य कर्म का पालन करते हुए परस्पर एक-दूसरे के पूरक बनते हैं, तथा पारस्परिक सौमनस्य से सभी स्वेष्ट सिद्धि द्वारा सुखी रहते हैं।

शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मों का विधिपूर्वक पालन भी यदि आसक्ति भाव से किया जाता है तो ये कर्म भी संसार के प्रपञ्च में फँसाने वाले बन्धन का कारण बन जाते हैं तथा केवल कर्तव्य बुद्धि से अनासक्त भाव से निर्लिप्त रहते हुए किये जावें तो पूर्वसञ्चित कर्मों के बन्धनों को काटकर मुक्ति के मार्ग पर पहुँचाने वाले होते हैं। "न तितिक्षा सममस्ति साधनम्" त्याग करने की इच्छा से बढ़कर या उसकी तुलना करने योग्य भी और कोई साधन हो ही नहीं सकता।

वस्तुतः पुरुष तत्व चेतन आत्मा तो सर्वथा निर्गुण निराकार ही होता है। और निर्गुण निरेन्द्रिय तथा निराकारता के कारण ही उसके द्वारा कभी भी कोई भी कर्म किया ही नहीं जा सकता। ये कर्म तो रजोगुणका ही धर्म हैं, इसलिए गुणातीत चैतन्य द्वारा कैसे सम्भव हैं। ये सम्पूर्ण कर्म त्रिगुणमयी प्रकृति के ही हैं मैं तो शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ, इस प्रकार की अनुभूति हो जाने पर कर्म के प्रति स्वत्व निवृत्त हो जाता है। क्योंकि जब मैं नित्य ही शुद्ध-बुद्ध एवं मुक्त हूँ तो फिर शरीरेन्द्रियादि मेरे हैं ही नहीं; और इनके द्वारा ही सम्पूर्ण कर्म किये जाते हैं। अतः वे कर्म भी मेरे नहीं; मैं तो पद्मपत्र मिवाम्भसा के न्याय से सर्वथा निर्लिप्त भाव से रहना वाला सर्वविविध कर्म बन्धनों से मुक्त विशुद्ध केवल चैतन्यस्वरूप सर्वथा मुक्त हूँ। सांख्य सूत्र है "विमुक्त-विमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य" भगवान कपिल कहते हैं कि पारमार्थिक रूप से सर्वथा मुक्त रहने वाले पुरुष तत्व में भी जो विषया-कारकारित बुद्धि के प्रतिबिम्बन सामर्थ्य से बुद्धि के सुख-दुःख मोह की अनुभूति होती है उसकी सर्वथा मुक्ति हो सके इसी के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति है।

रूपैः सप्तभिरात्मान-
मात्मनैव बध्नाति प्रकृतिः।
विमोचयति च-
केवलेनैकरूपेण।

इस कारिका के द्वारा ईश्वर कृष्ण ने स्पष्ट कर दिया है कि धर्म कर्म, वैराग्य

कर्म, ऐश्वर्य कर्म, अधर्म कर्म, अज्ञान कर्म, अवैराग्य कर्म तथा अनैश्वर्य कर्म इन सात प्रकार के कर्मों के द्वारा प्रकृति अपने आपको बन्धनों में डालती है तथा एक ज्ञान कर्म के द्वारा स्वयं अपने आपको मुक्त करती है। इस तरह से सम्पूर्ण कर्म पुरुष के सान्निध्य मात्र से प्रकृति द्वारा ही किये जाते हैं। पुरुष द्वारा कुछ भी नहीं। भगवद्गीता में भी भगवान कहते हैं कि—

प्रकृतेः क्रियमाणानिऽ
गुणैः कर्मोणिसर्वश ।
अहङ्कार विमूढात्मा-
कर्त्ताहमिति मन्यते ॥

अर्थात्—प्रकृति की साम्यावस्था में जब क्षोभ होता है तत्पश्चात् प्रकृतिस्थ तीनों गुणों के द्वारा ही निखिल कर्म किये जाते हैं किन्तु अविद्याअस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेशात्मक पाँचों क्लेशों से युक्त प्राणी महदादि तत्वों से आत्म तत्व को विविक्त करके साक्षात्कार नहीं करने वाला मूढ़ प्राणी ही मैं ही इन सम्पूर्ण कर्मों का करने वाला हूँ, ऐसा मानता है किन्तु जिसे आत्मा के निर्गुणत्व का तथा गुणों की क्रियाशीलता का बोध हो जाता है वह तो जानता है कि ये सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों के ही हैं मेरा इनसे कुछ लेना देना नहीं है, ऐसा अनुभव करके सर्वथा निर्विकार सर्वदा एकरस आत्मा स्वरूपावस्थिति को पा लेता है।

"अविद्यया मृत्युन्तीर्त्वा
विद्ययाऽमृतमश्नुते"

इस वेद वाक्य के अनुसार कर्म करना भी अनिवार्य है। प्राणी कर्मकाण्ड के द्वारा अपने पूर्व संचित कर्मों के पाप को प्रक्षालित करके तत्वज्ञा द्वारा अमरत्व को प्राप्त कर लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। वही मुक्ति चौरासी लाख योनियों में भटकने के पश्चात् मनुष्य योनि प्राप्त कर लेने वाले प्राणी का लक्ष्य है। अतः हर प्राणी का कर्तव्य है कि अपने-अपने कर्तव्य पालन हेतु परमपिता का हमें आदेश है ऐसा मानकर अपने-अपने कर्तव्य शास्त्रविहित कर्मों का विधिपूर्वक पालन करना ही चाहिए।

ऐसा करने से इस लोक में आज कर्म-सांकर्म के कारण तथा एक-दूसरे के कर्तव्य कर्मों में पारस्परिक छीना झपटी के कारण बढ़ती हुई बेरोजगारी एवं असन्तोष की समस्या का भी सर्वथा समाधान हो सकेगा एवं मानवमात्र विश्वबन्धुत्व की भावना अपनाकर ऐहिक एवं पारलौकिक परम शान्ति प्राप्त कर सकेगा। आशा है पाठक बन्धु सांकेतिक एवं अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत कर्म विषयक समीक्षण की ओर समुचित अवधान देकर इतने में सन्तोष करेंगे, क्योंकि यह विषय बहुत व्यापक है जिसे स्वल्पकाय लेख में समेटना कठिन ही है।

अवढर-दानी

श्री रामप्रकाश अनुरागी

हमारे प्रभु सबिहुँ अन्तर्यामी।
जो सोचूँ सो पूरा कर दें, अवढरदानी स्वामी।
पल-पल मोय सँवारें तातें, बचे न एकहु खामी।
ले त्रिशूल त्रय-ताप भगावें, मेटि देई बदनामी।
वरद हस्त से शक्तिपात कर, दूर करें नाकामी।
योग-भोग को सहज सम्हालें, पूर्ण ब्रह्म अविरामी।
इस तन की प्रभु लाज राखियो, हम जीवन संग्रामी॥

कर्म एवं कर्म बन्धन

श्रीमती सरिता भारद्वाज
एम.ए आचार्य

शुभाशुभ कर्म मुक्ति और बन्धन में कैसे कारण बनते है ? इस विषय पर प्रकाश डाल रही हैं 'सिद्धयोग' की विदुषी लेखिका श्रीमती सरिता भारद्वाज। —सं० सम्पादक

प्रत्येक प्राणी के साथ उसके पूर्वार्जित संस्कारों के अनुसार शुभ-अशुभ तथा शुभाशुभ मिले-जुले कर्मों का चक्र सतत् चलता रहता है, और जीव उस कर्म चक्र में सदा घूमता रहता है। जीव के अपने शुभाशुभ कर्मों के मूल में उसकी अपनी इच्छा या कामना प्रधान होती है। इच्छा या कामना का जन्म शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, और भौतिक आवश्यकता से होता है। ये आवश्यकताएँ अभाव या अनुभव करने से होती हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति कुछ न कुछ कर्म करता है। ये कर्म मन, बुद्धि और इन्द्रियों की सजग स्थिति में अर्थात् ज्ञान की दशा में होते हैं तो ऐसे कर्म शुभ कर्म होते हैं। जब बुद्धि, मन और इन्द्रियों की बेहोशी अर्थात् अज्ञान की स्थिति में होते हैं तो वे अज्ञान जन्य कर्म, पाप कर्म कहलाते हैं। तीसरे प्रकार के कर्म ज्ञान और अज्ञान के मिले-जुले शुभाशुभ रूप होते है। ये तीनों प्रकार के कर्म जन्म-मृत्यु और कर्म-संस्कार भोग के सुख-दुख के जन्मदाता बनते हैं। इस सुख-दुःख के द्वन्द्व-जाल में सारा विश्व भ्रमित होता रहता है। इन तीन कर्मों से ऊपर एक चौथी भी अवस्था है, जो निष्काम कर्म अथवा पाप-पुण्य से रहित परिणामातीत कर्म की अवस्था है, जो योगियों की अवस्था होती है। प्रकृति-पुरुष का विवेक ज्ञान करने वाले योगी कर्म करते हुए भी, अकर्ता बने रहते हैं। उनके कर्म सुख-दुःख के जनक नहीं बनते। आत्म-चैतन्य से युक्त होकर किए गए कर्म अहंकार मूलक कर्म नहीं होते। योगीजन आत्मा के प्रकाश से परिपूर्ण ज्योतिर्मय स्वरूप होते हैं, उनके कर्म संस्कारक्षय करने वाले प्रारब्ध भोगमात्र होते हैं। निःरहंकार अवस्था में किए गए कर्मों से कर्मबन्धन नहीं होता। योगी कर्म तो अवश्य करते है किन्तु कर्मफल ईश्वरार्पण कर देते हैं। कर्मफल का इस प्रकार त्याग कर देने के कारण, योगी के कर्म दिव्यकर्म कहे जाते हैं। योगदर्शन चतुर्थ पाद के सप्तम सूत्र में कर्ममीमांसा का विवेचन इसी प्रकार किया गया है—

कर्मशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

—योगदर्शन ४/७

गुण, काल और भाव के अनुसार कर्म पुण्य, पाप से रहित होते हैं। जो व्यक्ति आत्म-शुद्धि के लिए स्वाध्याय, तप, ध्यान,

समाधि आदि क्रियाएँ करते है, उनके कर्म सतोगुणवर्धक होने के कारण पुण्यकर्मों का कर्माशय तैयार करने वाले होते हैं। ऐसे कर्मों का फल—'सत्त्व सुखे संजयति' के नियमानुसार सुख देता है। रजोगुणी और तमोगुणी काम, क्रोध, लोभ, मोह की वृत्तियों में किए गए कर्म शुभ और अशुभ कर्माशय को जन्म देने के कारण हेय कोटि के कर्म होते हैं। ऐसे कर्मों में परपीड़न, परद्रव्यापहरण एवं चौर्य कर्म आदि आते हैं। ऐसे कर्मों का परिणाम दुःख होता है। यह शुभाशुभ कर्म कर्माशय को विकसित करने वाले होते हैं। कर्माशय में पड़े हुए कर्म विपाकोन्मुख हुए बिना अर्थात् सुख-दुःखके फल दिये बिना नष्ट नहीं होते। शुभाशुभ कर्मों के संस्कार बीजरूप से चित्त भूमि में पड़े रहते हैं। उचित परिणाम काल आने पर वे संस्कार सुख-दुःख के रूप में फलदायी होते हैं। त्रिविध कर्मों की दृष्टि से कर्माशय भी तीन प्रकार का होता है—पाप कर्माशय, पुण्य-कर्माशय और धर्माधर्म कर्माशय। यह कर्माशय ही वर्तमानकालिक और भूतकालिक जन्म का दाता है—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीयः। —योगसूत्र २-१२

किस प्रकार के कर्म कब अपना फल देंगे, यह कर्माशय में पड़े कर्म-संस्कार के बीजों की उत्कृष्टता और अपकृष्टता तथा काल और स्वभाव पर निर्भर करता है। पूर्वजन्मों में किए गए कर्म एक जन्ममें ही फलदायी नहीं होते। क्योंकि उन कर्मों में गुणों का तारतम्य होता है जो शुभ-अशुभ कर्म पूर्ण मनोयोग अर्थात् अतिमात्र तीव्र संवेग से किए किए जाते हैं उनका फल, जिस जन्म में वे किए जाते हैं उसी जन्म में उसका फल प्राप्त होता है। योगदर्शन में कर्माशय के दो भेद किए गए हैं—दृष्टजन्मवेदनीय (वर्तमान जन्म में भोग्य) तथा अदृष्टजन्मवेदनीय (आगामी जन्म में भोग्य)। योगदर्शन के व्यास भाष्य में इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया गया है—

"तत्र तीव्र संवेगेन मन्त्रतपः समाधिभिः निर्वर्तित ईश्वर देवता महर्षि महानुभावानाम् आराधनाद् वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्य कर्माशय इति। तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासपयोगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनः अपकारः स चापि पापकर्माशयः सद्यस्व परिपच्यते।"

तीव्र संवेग से किए गए कर्मों का फल दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय पैदा करता है। कर्म करने का मनोयोग की मात्रा के आधार पर मुख्य रूप से तीन प्रकार का विभाजन किया जाता है। मन की पूर्ण एकाग्रता से मन, बुद्धि और इन्द्रियों की एकसूत्रता द्वारा किए गए उत्साहपूर्ण कर्म तीव्र संवेग के कर्म होते हैं। जिन कर्मों में उत्साह की कमी होती है और असावधानी से किए जाते हैं वे मध्य-मृदुसंवेग के कर्म कहलाते हैं। जो बिना जाने और आलस्य से कर्म किए जाते हैं वे मन्दसंवेग के कर्म होते हैं। इनमें प्रथम तीव्रवेग के कर्म जिस जन्म में किए जाय वे उसी जन्म में फलदायी होते हैं। तीव्र संवेग कर्म प्रारब्ध संस्कारों का शीघ्र नाश कर देते हैं कर्मों की यही स्वतन्त्रता है। यदि कर्म करने की जीव को स्वतन्त्रता न होती तो वह कभी कर्मबन्धन से मुक्त होने वाला न होता। क्योंकि कर्मचक्र अनादिकाल से जीव के साथ चला आ रहा है किन्तु वह ऐसा नहीं कि वह

अनन्त अर्थात् कभी अन्त होने वाला न हो। जीव यदि तीव्र पुरुषार्थ करे, तो वह ज्ञानाग्नि प्रकट करके अपने क्लेशमूलक कर्माशय में पड़े हुए अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश के बीजों को भस्म करके जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पा सकता है। वह उत्साह और योगयुक्त होकर तीव्रसंवेग से मन्त्र जप करे, तप करे तथा इष्ट में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का समर्पण करके इष्ट में लयता प्राप्त कर ले, तो ऐसे कर्मों से उत्कृष्ट कोटि का सतोगुण प्रधान कर्माशय तैयार हो जाता है। जैसे सूर्य के निकलने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार चित्त शुद्धि के लिए किये गये शुभ कर्मों से दुःख रूप, व्याधि और आधि रूप, पाप कर्म तुरन्त नष्ट हो जाते हैं। इसी नियम के आधार पर रोग निवृत्ति के लिए मन्त्र जप का विधान है। ध्यान और समाधि असाध्य रोगों की रामबाण औषधि बताई जाती है। मन्त्र, तप और समाधि रूप सात्विक कर्मों के अतिरिक्त शरीर और मन के संयोग से होने वाले पुण्य सम्पादन के अन्य कर्म भी है, जिनसे इसी जन्म में पुण्य कर्माशय तैयार होकर तत्काल फल देता है। एकाग्र मन से ईश्वर देवता तथा परमार्थरत साधु-सन्तों की आराधना और सेवा सुश्रूषा से पुण्य कर्माशय इसी जन्म में तैयार होकर तत्काल फलदायी होता है। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण देखने और सुनने में आते हैं कि किसी की सेवा से प्रसन्न होकर साधु और योगीजन तत्काल किसी के दुःख दैन्य और पापमूलक कर्माशय को पुण्य भाजन बना देते हैं। महापुरुषों के आशीर्वाद से कर्म प्रवाह बदल जाता है। आत्मा सत-चित्त आनन्द स्वरूप है। महापुरुष इसी आनन्द-सागर में डूबे रहते हैं। वे जब किसी की सेवा से प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद देते हैं, तो जैसे जल के ऊपर की काई हटने पर जल के दर्शन होने लगते हैं, वायु के द्वारा बादल के हट जाने पर सूर्य का प्रकाश परिलक्षित होने लगता है, उसी प्रकार आशीर्वाद प्राप्त व्यक्ति के अन्दर का नित्य चेतन तत्व प्रकाशित हो जाता है। कर्माशय में पड़े दुःखदायी संस्कार जो व्याधि और दुःख के रूप फलभोग के रूप में प्रतीत हो रहे थे, वे नष्ट हो जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदासने इसीलिए कहा है—'सत्संगति सुख संसृति सूला'। जिस प्रकार शुभ कर्मों का तीव्रसंवेग से तैयार किया हुआ कर्माशय इसी जन्म में फलदायी होता है, उसी प्रकार कृष्णकर्म (पाप-कर्म) का इसी जन्म में फल देने वाला कर्माशय तीव्रसंवेग से किये गये पापकर्मों द्वारा तैयार हो जाता है। ऐसे पाप-कर्मों की गणना में योगदर्शन के व्यास भाष्य में कुछ कर्म गिनाये गये हैं। जैसे श्रद्धायोग्य तपस्वियों का अपमान करने से, दुःखी व्यक्ति को जान-बूझकर पीड़ा पहुंचाने से, तथा विश्वासघात करने से, रोगी और कंजूस को कष्ट देने से, पाप कर्माशय तुरन्त तैयार होकर कष्टदायक फल देता है। जैसे इन्द्र का पद प्राप्त कर अभिमान में चूर हुए राजानहुष ने ऋषि-मुनियों पर पाप-प्रहार किया। ऋषियों के शाप से राजानहुष नीच योनि को प्राप्त हुए।

कर्म का फल बन्धन ही होता है। यह दूसरी बात है कि वह बन्धन सुखदायी हो अथवा दुःखदायी। रामकृष्ण परमहंस कहते थे कि—"बेड़ी चाहे लोहे की हो चाहे सोने की, वह बन्धन का कारण है।" अन्त: विज्ञानी व्यक्ति शुभाशुभ दोनों कर्मों को योगअग्नि में जब तक दग्ध नहीं कर देता तब तक उनका उगना रुकता नहीं। नाना प्रकार की योनियों के रूप में जीव को कर्म फल के अनुसार सुन्दर व असुन्दर शरीर, थोड़े समय पर्यन्त

अथवा बहुत समय-पर्यंत धारण करना पड़ता है। मनुष्य अपने शरीर से ही कर्मफल को भोगता है। चाहे वह स्थूल-सूक्ष्म शरीर से भोगे या कारण शरीर से। कर्म-विपाक तीन रूपों में प्रकट होता है—जाति, आयु और भोग। जैसे अगस्त्य ऋषि पर पाद प्रहार का दुष्कृत्य करने के कारण राजा नहुष को सर्प-योनिका कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ा। इसी प्रकार श्रेष्ठ द्विज जाति में पूर्व जन्मों के कर्मोंके फलस्वरूप नन्दीश्वर कुमार ने महादेव की अविचल भक्ति से उत्पन्न कर्माशय से दीर्घ जीवन और दिव्य-भोग प्राप्त किये। तीव्र-संवेग द्वारा निष्पादित दृष्टजन्म वेदनीय कर्माशय से जाति रूप की प्राप्ति नहीं होती। उससे इसी जन्म में परिणामान्तर देखने में आता है।

जिन योगियों का कर्माशय क्षीण क्लेशयुक्त हो गया है उनमें अदृष्टजन्म वेदनीय कर्माशय नहीं होता। क्योंकि विवेक ज्ञान से उनके संचित और क्रियमाण कर्म स्वतः नष्ट हो जाते हैं और प्रारब्ध कर्म भोग द्वारा वे नष्ट कर लेते हैं। योगियों के कर्म आत्म-शुद्धि के लिए किये गये आसक्ति रहित कर्म अन्य कर्माशय प्राप्त नहीं करते। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने इसका निरूपण पंचम अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में किया है—

कायेन मनसा बुद्ध्या,
केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति,
सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

आत्म शुद्धि के लिए योगीजन आसन, प्राणायाम, ध्यान, समाधि आदि जो कर्म करते हैं उन कर्मों से शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ सब शुद्ध हो जाती हैं। इन कार्यों से सुषुम्ना का मार्ग खुल जाता है और प्राण सुषुम्ना मार्ग में प्रविष्ट हो जाता है। प्राण के पीछे-पीछे मन भी स्थिर हो जाता है और मन की एकाग्रता से बुद्धि भी स्थिर हो जाती है। बुद्धि स्थिर होने पर समाधि-लाभ होता है। उस समय सभी कर्मों का लक्ष्य हृदयस्थ ईश्वर प्रीति होने के कारण वे कर्म फलाकांक्षा रहित बन जाते हैं।

कर्म के द्वारा अज्ञानी बन्धन में पड़ते हैं और योगीजन कर्म द्वारा ही काँटे से काँटा निकालने के सिद्धान्तानुसार मुक्त होते हैं। जो योगयुक्त होकर कर्मफल त्याग करते हुए मन और प्राण को एक करके कर्म करते हैं, वे मोक्ष प्राप्त करते हैं, किन्तु जो बहिर्मुख इन्द्रियों के वशीभूत होकर उनको सुख देने की कामना से आसक्तिपूर्वक कर्म करते हैं वे बन्धन को प्राप्त होते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा,
शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण,
फले सक्तो निबध्यते।
(गीता ५/१२)

मन जब इन्द्रियोंके साथ रह कर कर्म करता है तो वे कर्म पुण्य-पाप के जनक बन जाते हैं। यदि मन, बुद्धि और आत्मा के साथ युक्त होकर कर्म करता है तो उस अवस्था में किये गये कर्म सहज हो जाते हैं। ऐसे कर्म प्रवृत्ति-मूलक कर्माशय नहीं बनाते। जिस प्रकार के कर्मों का भण्डार अधिक मात्रा में कर्माशय में संचित हो जाता है और अनेक कर्मों से एक जन्म होता है। उस जन्म में जन्म से लेकर मरण तक की अवधिपर्यंत किये गये अच्छे-बुरे कर्मों से संचित कर्म होते हैं। वर्तमान शरीर के जन्मदाता कर्मों का भोग द्वारा नाश

हो जाता है तो उन कर्मों का परिणाम यह शरीर भी नष्ट हो जाता है और अन्तिम समय जिस प्रकार के कर्मों का संस्कार और उससी स्मृति प्रबल होती है, उसी प्रकार का जन्म हो जाता है। कर्म के संस्कार बीज रूप से प्रसुप्त अवस्था में रहते हैं। उनमें से कुछ संस्कार प्रधान होते हैं और कुछ गौण। जैसे किसी व्यक्ति ने अच्छे कर्म किये, किन्तु क्रोध में आकर किसी की हत्या कर दी तो उस हत्या के कर्म के फलस्वरूप उसे किसी पशु-पक्षी निकृष्ट योनि में जन्म लेना पड़ेगा और उस शरीर में उस कर्म को भोगकर अच्छे कर्मों के भोग के लिए फिर मनुष्य शरीर धारण करता है। योग-दर्शन में इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि क्या एक कर्म एक जन्म का कारण होता है अथवा अनेक जन्मों का या अनेक कर्म एक साथ अनेक जन्मों के कारण हैं अथवा अनेक जन्म एक कर्म के कारण हैं? आचार्य विज्ञानभिक्षु और नागेश भट्ट की मान्यता है कि व्यक्ति शीघ्र ही कर्मफल भोग की कामना से शुभ कर्म में प्रवृत्त होता है। इसलिए एक कर्म से एक जन्म का सिद्धान्त उचित प्रतीत नहीं होता। अधिकांश आचार्यों की मान्यता है कि अनेक कर्मों से एक जन्म होता है। कर्माशय में अनेक जन्मों के कर्म संस्कार बीज प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान रहते हैं। जब प्रधान कर्म जन्म का कारण बन जाता है तो जैसे रानी मक्खी के पीछे अन्य मक्खियाँ उड़कर चल पड़ती हैं, उसी प्रकार प्रधान कर्म के सदृश्य अन्य कर्म उस कर्माशय राशि में से कर्मभोग के लिए उपस्थित होकर जन्म से मरण तक के बीच में कर्मफल भोग देते हैं और बीज वृक्ष न्याय से वैसे ही क्रियमाण कर्म कर्माशय तैयार करते रहते हैं। प्राणी अपने कर्मफल का भोग-

भोगानुकूल वासना के द्वारा करता है। जैसे पूर्व के किसी जन्म में पशु-शरीर से जो भोग का अनुभव किया था, उससे उत्पन्न हुई वासना ही वर्तमान पशु-शरीर में भोग का कारण बनती है।

वासना का सतत् प्रवाह चलता रहता है। जाति, देश तथा काल की अत्यन्त दूरी होने पर भी वासना ही संचित कर्मराशि से कर्मफलों को पैदा करती है। स्मृति के बल से कर्माशय से कर्मफल के लिए उचित कर्म संस्कार तत्काल उपस्थित कर दिये जाते हैं। स्मृति तथा संस्कार की एकरूपता से दूरी समाप्त हो जाती है। जैसे बिल्ली बनने के पश्चात् कोई मनुष्य बनता है तो उसमें बिल्ली जैसी चालाकी के संस्कार देखने में आते हैं किन्तु उससे पूर्व जन्मों में मनुष्य संस्कार भी स्मृति के द्वारा उदारभाव को प्राप्त होकर कर्मफल देने लगते हैं जिससे वह स्वाध्याय, तप, ईश्वर प्रणिधान आदि सत्कर्म करने की इच्छा करता है। जो दिव्य लोकों के सुख भोगकर आते हैं, उनमें भी उस सुख-भोग की वासना संस्कार रूप में विद्यमान रहती है। जिसके परिणामस्वरूप ऐसे प्राणी सुन्दर आकृति के तो होते ही हैं उनकी चेष्टाएँ सुन्दर रूप, शब्द और गन्ध को प्राप्त करने वाली देखी जाती हैं। यद्यपि यह वासना प्रवाह जल-तरंग-पाप से अनादि है, तथापि यह कर्मबन्धन को मुक्त करने में बाधक नहीं है। पुरुषार्थ से कर्मफल की वासना नष्ट की जा सकती है। धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, राग-द्वेष वाला छः अरों का यह संसार चक्र अविद्या के द्वारा अवर्तित होता है। इस अविद्या को विवेक ज्ञान द्वारा नष्ट किया जा सकता है। बिना नष्ट हुए यह विद्या चित्त के आश्रित होकर बनी रहती है

चित्तवृत्ति के निरोध से अविद्या और इसका समस्त परिवार आत्यन्तिक रूप से आछन्न हो जाता है। आश्रय के नाश होने पर तदाश्रित वासनाओं का भी नाश हो जाता है।

कर्म का उद्गम गीता में निर्दिष्ट—"भूत भावोद भवकरः विसर्गः कर्मसंज्ञितः।" से समझा जा सकता है। पुरुष विशेष ईश्वर में जब स्पन्दन होता है तो सृष्टिरूपी कर्म और सात्विक राजसिक तथा तामसिक भावों का सृजन होने लगता है। इसी प्रकार जीव में जब शक्ति बाहर की ओर फैलती है, तो कर्म का स्वरूप बन जाता है। जब वह शक्ति अन्दर की ओर एकमुखी होकर कूटस्थ हो ती होती है, तो शक्ति की स्थिरता अकर्म रूप हो जाती है। जितनी-जितनी मन, बुद्धि और इन्द्रिय प्राणों की चंचलता बढ़ती है तब-तब कर्म का विस्तार होता है और योग साधनों के द्वारा मन-बुद्धि और इन्द्रियों को आत्मा के वश में स्थिर कर लेते हैं तो वासना क्षय और मनोनाश होने लगता है। वासनाक्षय के होने पर कर्मफल का भी नाश-विज्ञान आत्मय के द्वारा होता है। कर्म-बन्धन का कारण होता है, ऐसा सोचकर यदि कोई बाह्य इन्द्रियों से कर्म न करे तो मन इन्द्रियों का कार्य करने लगेगा और मन द्वारा शुभाशुभ कर्म होते रहेंगे। योगी कर्म-मीमांसा के विज्ञान में पारंगत होता है। वह कर्मों को भोगकर नष्ट करने की कला जान जाता है। स्थूल शरीर से इस जन्म के निमित्त प्रारब्ध कर्मों का भो... हो पाता है। सामान्यजन ... कर्मफल भोगते हैं। उनमें ... े के कारण, जिस प्रकार ... उसी प्रकार के नये कर्म ... प को बढ़ाते रहते हैं।

परन्तु योगी प्राण, कर्म और संयम के द्वारा ध्यान-समाधि के विज्ञान से सूक्ष्म शरीर द्वारा बीज भाव में पड़े हुए संचित कर्मों को भोगकाल में खींच लेता है और उनको सूक्ष्म में ही भोगकर सूक्ष्मकाल में समाप्त कर देता है। फिर भी कुछ ऐसे कर्म शेष रहते हैं जो अनादि कर्मवासना के आश्रय से प्रसुप्त रूप में अनेक जन्मार्जित संस्कारों के आश्रित पड़े रहते हैं। और कालान्तर में बन्धन का कारण सिद्ध होते हैं। समाधि प्रज्ञा का उदय कर योगी एक साथ अनेक चित्तों का निर्माण कर बहुत जन्मों के कर्मों को एक साथ भोग कर नष्ट देता है। निर्बीज समाधि में पहुँचकर समस्त कर्म-बन्धनों से योगी मुक्त हो पाता है। वह कारण शरीर से अविद्या तथा उसकी शक्ति से होने वाले कर्माशय में पड़े जन्म-मरण के हेतु संस्कार बीजों को समूल नष्ट कर देता और महाकारण में पहुँचकर कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर अव्यय और अविनाशी अपने निजस्वरूप को प्राप्त कर ईश्वर के सदृश ज्ञान, ऐश्वर्य और परम शान्ति से ओत-प्रोत हो जाता है। योग के बिना कोई ऐसा मार्ग नहीं जिससे आत्म-कल्याण को लक्ष्य बनाकर कर्म कराने का ढंग, शास्त्र ज्ञान या शब्दज्ञान हो सके। जब तक वह योग में प्रवेश नहीं करता तब तक वह भी कर्म-बन्धन का ही कारण बनता है। योग विज्ञान से शुभाशुभ कर्म ईश्वर को कैसे समर्पित किये जाते हैं, यह रहस्य साधक को शक्तिपात द्वारा बुद्धिगम्य हो जाता है और जिससे साधक बुद्धियोग का आश्रय लेकर ईश्वर समर्पण भाव से अहंकाररहित होकर कर्म करता हुआ ही अकर्ता बना रहता है।

(पृष्ठ १३ का शेष) — अहिंसा और समता भाव

दृष्टि से देखें तो सबमें मूलभूत चेतना या आत्मा एक ही है। जैन आगमों में एगे आया (=एक ही आत्मा) कहा गया है। अहिंसा भाव इसी चरम एकत्व का निरन्तर पोषक है। समत्व भावना का उदय अहिंसा की मूल वृत्ति पर ही होता है, क्योंकि एक में, अखण्ड में, परम में रमण करने की जो क्षमता हो, वही समता भाव को अपने जीने का आधार बना सकता है। वैसी मानसिकता में वह सङ्कीर्ण नहीं हो सकता। फलत: हिंसा कर्म, कठोर अथवा सीमित स्वार्थ का कृत्य वह नहीं कर सकता। हिंसा वृत्ति इसी अर्थ में पाप-वृत्ति बताई गई है कि उसका परिणाम करने वाले की चेतना पर पड़ता है। पाप-कर्म का जब तक चेतना में अनुभव नहीं होता तब तक वह पाप होता नहीं। पाप वास्तव में विषमता के आधार पर किया गया कृत्य ही है, जिसे करने के बाद करने वाला चेतना में अनुभव करता है। चेतना से जब तक विषमता का, ऊँची-नीच का, अपने-पराये का तिरोभाव नहीं होता अथवा नानात्व के भेदों में जब तक एकत्व का भाव नहीं होता, तब तक समता भाव अथवा अहिंसा भाव की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है। भेदकत्व में प्रवेश वास्तव में 'स्वयं' में प्रवेश है, स्वयं में ही रमण है। अपने स्वयं में प्रवेश आराधों को, अन्याय-शोषण को, अत्याचारों को सहन करते रहने के रूप में नहीं देखा जा सकता।

उक्त सन्दर्भ में फिर यह प्रश्न उठता है कि अहिंसा, क्षमा, मैत्री, समता आदि भाव क्या साधना-मार्ग के पथिक के लिए ही आवश्यक हैं ? क्या इस मार्ग पर चलना उदासीनता, विरक्ति, सन्यास या जीवन से पलायन का मार्ग है ? क्या अहिंसा, क्षमा, मैत्री अथवा समता मार्ग पर चलना पुरुषार्थी के लिए वर्जित है ? नहीं, ऐसा नहीं लगता। क्योंकि अपनी मूल सत्ता में तल्लीन होना, अपने अस्तित्वमें समाहित होना, अपने आत्म-बोध को विस्तार में विराट देखना और पुरुषार्थ के मार्ग पर चलते जाने में कोई विरोधाभास नहीं दिखाई देता। बोधमय होते हुए उसमें समाहित होने या रहनेमें अपनी चेतना के विस्तार में अपने को तल्लीन अनुभव करना 'मुक्ति' प्रक्रियाका अंग माना गया है। परन्तु ऐसा करना पुरुषार्थ भाव से रहित नहीं माना जा सकता, क्योंकि पुरुषार्थी के लिए साधन, साध्य रूप में लक्षित बना रहता है। लक्षित ही नहीं, धीरे-धीरे वह उसका स्वभाव बन जाता है। इस भाव सत्ता में ही वह सम्पूर्ण जीव-सत्ताके साथ तादात्म्य करता हुआ साधन-साधना निरत बना रहता है। साधन या साधना 'अह की मुक्ति' के रूप में चेतना के विस्तार में उपादान कारण बनती है। ऐसा करते हुए व्यक्ति स्वयं से स्वयं का उद्धार करता है। "उद्धरेत आत्मनाआत्मन" (गीता ६/५) के रूप में संयम, तप और स्वाध्याय माध्यम बनते हैं। इनसे उदित अहिंसा भाव, क्षमा-मैत्री आदि के द्वारा साधक-चेतना के कषायों को दूर करते हुए मानसिक ग्रन्थि उद्घाटन का प्रयत्न करता है। ग्रन्थियाँ वास्तव में व्यक्ति स्वयं के द्वारा निर्मित करता है और छुटकारा भी वह स्वयं ही पाता है। क्योंकि वह चिन्तन के द्वारा जान लेता है कि बाहर से कोई बाँधने वाला है नहीं। अत: पुरुषार्थी ग्रन्थि के मूल कारण को ही नष्ट करने का प्रयत्न करता रहता है। यदि व्यक्ति अपने साध्यके प्रति पूजा, अर्चा का भाव नहीं रख पाता, तो वह लोभ-मैत्री, करुणा भाव

को आत्मसात् करने में असमर्थ रहता है। अत: वैरभाव से मुक्ति पाकर व्यक्ति समता भावना की भूमिका में मैत्री भाव की प्रतिष्ठा कर पानेमें समर्थ हो जाता है। ये क्षमा-मैत्री भाव ही प्रकारान्तर से अहिंसा भावके पोषक माने गये हैं।

उक्त निष्कर्ष के विपरीत हिंसा वृत्ति का परिणाम आज हम सब समाज-जीवनमें, राष्ट्र-जीवन में और विभिन्न राष्ट्रों के बीच भली प्रकार देख रहे हैं कि पूरा मनुष्य समाज आज 'हिंसा' से सत्राक्रांत है। विचित्रता तो यह है कि सभी इसकी निन्दा करते हैं और प्रेम-पुजारी होने की घोषणा करते हैं, पर सभी अधिकार एवं वैभव प्राप्त लोग बंदूक-तोपादि के माध्यम से कुछ व्यक्तियों के लिए असीमित जन-धन व्यय करते हुए निरन्तर हिंसा को ही बढ़ावा दे रहे हैं। हिंसा का सामना दण्ड व्यवस्था को मजबूत करने, कानून बनाने, विश्व-व्यवस्था का नया संविधान रचने मात्र से सम्भव नहीं है। जब तक जगत जीवन का केन्द्र व्यक्ति और उसका आंतरिक अनुशासन पुष्ट नहीं होगा, व्यक्ति का व्यक्तित्व 'स्व' के विस्तार से प्रेरणा ग्रहण नहीं करेगा, तब तक सारे नियम-कानून बे-ईमान ही सिद्ध होते रहेंगे, क्योंकि व्यक्ति अपने ही अज्ञान अथवा संकीर्णता के कारण या फिर स्वयही आणका से जन्मी शत्रुता के कारण अनेक विभेद-समस्यायें ही खड़ी कर लेता है। इस संकीर्ण चेतना का रूपांतरण ही सही दिशा में सही कदम हो सकता है। ऐसा व्यक्ति शासन की चिन्ता न करके अनुशासन में जीता है। वैसे शासन और अनुशासन में कहीं एक-दूसरे से टकराव नहीं है। अनुशासन निश्चित ही शासनको दिशा-निर्देश कर सकता है, क्योंकि अनुशासन ही विचार क्रांति का मूल स्रोत है और व्यक्ति ही समाज या राष्ट्र-जीवन की सामूहिक इकाई बनता है। इस सामूहिक इकाई में अनुशासन पर पल्लवित अहिंसा भावना विभेदों को तोड़ती हुई समता भूमि को और अधिक चौरस एवं व्यापक बनाती है। हमारे समाज में मनाये जाने वाले प्रमुख उत्सवों के मूल में मनीषियों की चेतना ऐसी ही समता भावना से प्रेरणा ग्रहण करती है। होली, विजयदशमी, दीपावली, पर्युषण पर्व, व्यास पूजा, गुरु पूजा, कुम्भ पर्व बुद्धपूर्णिमा, ईद मिलन आदि पर्वों की मूल प्रेरणा मैत्री, क्षमा एवं समता भावना पर आधारित रही है। इन सबके पीछे अहिंसा भावना प्राणतत्व के रूप में कार्यशील रहती है।

स्वामी महावीर एवं गौतम बुद्ध ने क्षमा और करुणा भावना को अपने आचरण से सामाजिक स्वरूप प्रदान किया है, जिसका स्पष्ट प्रभाव सन्त-वाणी पर परिलक्षित होता है। "सब मुझे क्षमा करें, मैं सबको क्षमा करता हूँ। मनसा-वाचा-कर्मणा ऐसी अभिव्यक्ति अनेक प्रकार के क्लेशों-वैमनस्यों को स्वयं ही निर्मूल कर देती है। इस प्रकार अहिंसा, क्षमा, दया, करुणा, मैत्री भावना आदि स्वयं में साध्य नहीं है, पर आत्मचेतना विस्तार में एक सुनिश्चित सहायक भूमिका निभाते हैं, क्योंकि इन भावनाओं के भाव में हृदय-ग्रन्थि का विमोचन होकर बन्धबद्धता के साथ मुक्ति का अनुभव होता है।

प्रस्तुत विचार परिप्रेक्ष्य में सन्त-वाणी और उसके 'शील' पक्ष पर विचार करना अपेक्षित है। संतोंके भाव-विचार का आचरण पक्ष जिस 'स्व' पर निर्भर है, उसकी संवेदना बहुत व्यापक है। सन्त-वाणी की चेतना के अवगाहन से सन्त खण्डित जीवन के जीने को 'जीना' या पूरा नहीं मानते। जिस पूरे जीने

को वे जीना मानते हैं, उसमें सारा या समग्र की चेतना का सन्निवेश उनकी दृष्टि में प्रथम अनिवार्य अपेक्षित है। दादू कहते हैं कि— "एक अनेकों फिरि मिले, एक समाना एक" (दादू० बा० २/८२)। जिसका मन्तव्य 'एक' की ही अनेकों में परिव्याप्ति है, फिर उस एक को सीमित करके कैसे देखा जा सकता है।१ सृष्टि में व्याप्त प्राण-चेतना के आधार पर ही अपने 'स्व', अपने व्यक्तित्व को गुलाम बनाने वाली मदिरा-मांस सेवन के द्वारा इन्द्रिय स्वाद के लिए दूसरों के हाथ बेचने वाली प्रवृत्ति को सन्तों ने स्पष्ट शब्दों में निषिद्ध बताया है। इस प्रकार के निषेध या वर्जन में धर्मरूढ़ि प्रधानता न होकर व्यक्ति स्वास्थ्य के लिए आदतों की विवशता का दुष्चक्र तोड़ने का लक्ष्य एवं प्राण-चेतना को सर्वोपरि मानना ही प्रमुख है। नशेकी आदत मांस-भक्षण की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है, जिससे मनुष्य की चेतना 'पराधीन' होती है। जब व्यक्ति की चेतना ही अपने अधीन नहीं है तो व्यक्ति दूसरे का गुलाम तो बाद में होता है, अपनी क्षुद्र आदतों, इन्द्रिय-वृत्तियों का गुलाम होकर पहले ही सङ्कीर्ण बन जाता है। इसीलिये सन्त कबीर ने कहा है कि जब तक व्यक्ति में अहिंसा भाव पर टिकी दया या मेहरबानी की भावना नहीं, तब तक वह हिन्दू या मुसलमान तो दूर 'आदमी' कहलाने का भी अधिकार नहीं। ऐसी क्रूर वृत्तियों के दास जड़-मूल से विनष्ट हो जाते हैं।२ सन्त-चेतना जब यह कहती है कि पीड़ा का भाव अथवा पर-दुःख कातरता की चेतना अनुभव में उतर आती है तो निश्चित ही अहिंसा भाव की प्रतिष्ठा होने लगती है और ऐसी मानसिकता में प्राण और

---

१. हरि सरवर पूरन सबै, जित तित पाणी पीव। ९२
अखंड सरोवर अथग जल, हंसा सरवर न्हाहि।
निर्भय पाया आप घर, इब उड़ि अनत न जाहि॥ ९९
दादू देखौ दयाल कौं, सकल रह्या भरपूरि।
रोम रोम में रमि रह्या, तूं जिनि जाणै दूर॥ ७८
दादू देखौ दयाल कौं, बाहरि भीतरि सोइ।
सब दिसि देखौं पीव कौं, दूसर नाहीं कोइ॥ ७९
दादू अलख अलाह का, कहु कैसा है नूर।
दादू बेहद हद नहीं, सकल रह्या भरपूर॥ १०३
खण्ड खण्ड निज ना भया, इकलस एकै नूर। १०६ —दादू०बा०भा० १ परचा०,

२. मांस मछरिया खात हैं, सुरापान से हेत।
सो नर जड़ से जाहिंगे, ज्यों मूरी का खेत॥ २
मांस मांस सब एक है, मुरगा हिरनी गाय।
आँखि देखि कर खात हैं, ते नर नरकहि जाय॥ ३
हिंदू के दाया नहीं, मिहिर तुरक के नाहि।
कहैं कबीर दोनों गये, लख चौरासी माहि॥ ६ —सं०बा० संग्र० १ पृ० ६१

प्राणों ही लक्षित रहते हैं।१ सभी प्राणों में पीड़ा का भाव प्रायः एक-सा ही होता होगा, इस आधार पर सभी जीवोंकी पीड़ा विषयक अनुभूति एकसी बताते हुए संत मलूकदास पेड़ की हरी शाखा को तोड़ने, मूल से विच्छेद करने का वर्णन करते हैं। देखिये—

हरी डारि तोड़िये, लागै छूरा बान।
दासमलूका यों कहै, अपना सा जिय जान॥
—मलूक० बा० पृ० ३७

मारना, ताड़ना या अनुशासन करना है तो अपना करना चाहिए। 'पर' के प्राण-हरण करना ही अपनी चेतना को खण्डित करके देखना है।२ भावना विहीन क्षेत्र में टुकड़ों में बँटा हुआ विरोधाभासों में जीता है। ऐसे भावहीन क्षेत्र में दादू जीना भी पसन्द नहीं करते, क्योंकि अहिंसा भाव पर प्रतिष्ठित भक्ति की चेतना का वहाँ संचार ही नहीं हुआ है। देखिये—

भाव हीण जे पिरथमी, दया विहूणा देस।
भगति नहीं भगवंत की, तहं कैसा परवेस॥

सबमें प्राण-पुरुष के अनुभव के बिना निर्भय एवं निर्वैर भावना की अनुभूति सम्भव नहीं है। जब तक यह चेतना अनुभूति का विषय नहीं बनेगी, तब तक 'दुखिया' को दुख और भूखे के हिस्से में भूख बनी ही रहेगी।३ 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई। पर पीड़ा सम नहि अधमाई॥' (तुलसी) जैसे सिद्धांत वचन केवल सूक्तियाँ ही नहीं हैं—जीवन आचरण के दिशा-निर्देश वचन है, जिनके परिपालन में ही उनका एक वचन और बहुवचन रूप है। तभी तो कबीर 'दया' के आधार पर 'धर्म' की स्थिति और 'क्षमा' के आधार पर स्वयं 'परमेश्वर' का अस्तित्व मानते हैं।४ जीवनमें परमेश्वर-परमात्मा का अनुभव ही अहिंसा-प्रतिष्ठा और समता-भाव को योगमूलक भूमिका है।

[मान्यवर डा० मिश्रजी के इस विद्वत्तापूर्ण सार्थक लेख को पाठक ध्यान से पढ़कर लाभ उठायें, ऐसा हमारा निवेदन है। —स० सम्पादक]

१. पीर सबन की एक सी, मूरख जानत नाहि।
काँटा चुभे पीर हो, गला काट कोउ खाय॥ ५८
कुंजर चींटी पशु नर, सबमें साहिब एक।
काटे गला खोदाय का, करै सूरमा लेख॥ ५५ —मलूक० बा०, पृ० ३७
साईं के सब जीव हैं, कीड़ी कुंजर सोय। —सं०बा०सं० ४, कबीर पृ० ५२
२. काला मुँह कर करद का, दिल थे दूरि निवार।
सब सूरत सुबहान की, मुल्ला मुग्ध न मार॥
आपा को मारे नहि, पर को मारन जाइ।
दादू आपो मारे बिना, कैसे मिलै खुदाइ॥ —सं०बा०सं० १, पृ० ८५, ८६
३. दुखिया जनि कोइ दूखवै, दुखए अति दुख होय।
दुखिया रोइ पुकारि है, सब गुड़ माटी होय॥ —सं०बा०सं० १, मलूक पृ० १०४
हलन छोटे वे बड़े, मुसलमान या हिन्दू।
भूखे देवै भोगियाँ, सेवै गुरु गोविन्दु॥ ५ —वही, पृ० १३६
४. दुखदाई सब से बुरा, जानत है सब कोय।
कह मलूक कंटक मुआ, धरती हलकी होय॥ —मलूक बा०, सा० ६६, पृ० ३८

यह विशेषांक

'सिद्धयोग' का यह 'कर्म-मीमांसा विशेषांक' जो सिद्धयोग प्रकाशन के २३वें वर्ष का प्रवेशाङ्क-विशेषांक भी है, आपके हाथों में है। महाप्रभुजी की पावन जयन्ती के अवसर पर इसका प्रकाशन यों तो स्वयं ही अतिशय आनन्द और मंगल का रूप लेकर हम सबके उत्साह और प्रेरणा का स्रोत बन जाता है फिर भी इस अङ्क की विवेचना और मूल्याङ्कन पाठकों के अपने अधिकार क्षेत्र का विषय है। अतः इस दिशा में हमें उनके अभिमत की अपेक्षा रहेगी, जिसका सहारा और दिग्दर्शन पाकर इसके सम्पादन और व्यवस्था विभाग में संलग्न कार्यकर्ता आगे अधिक सजगता के साथ अपने कर्तव्य-पालन के क्षेत्र में और आगे बढ़ सकें।

जिन विद्वान लेखकों की कृतियों को इस अङ्क में समावेश किया गया है वस्तुतः वे ही सब इस अङ्क की उपादेयता के श्रेय के अधिकारी हैं। इन सबके अमूल्य सहयोग के प्रति हम आभार प्रकट करते हुए अपने तथा हम-सबके आराध्य श्रद्धेय गुरुदेवजी को सादर नमन् करना भी अपना पावन कर्तव्य समझते हैं जिनकी कृपा और आशीर्वाद से उनके अनेक प्रिय शिष्यों के विचारपूर्ण सुलेख हमें प्रकाशनार्थ प्राप्त होते रहते हैं। कर्ममीमांसा-विशेषांक के प्रकाशन का मूल सुझाव आचार्य प्रवर श्री चन्द्रहास शर्मा द्वारा ही गुरुदेवजी को दिया गया था जैसाकि उन्होंने स्वयं अपने लेख में लिखा है। लेखों की जो तालिका आचार्य चन्द्रहास जी ने गुरुदेवजी के परामर्श के पश्चात् हमें भेजी थी उसे थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ यथावत् 'सिद्धयोग' के कई पिछले अङ्कों में छापा गया। किन्तु निर्धारित समय के भीतर लेख भेजने की कृपा कुछ ही लेखक बन्धुओं ने की। दिल्ली से प्रायः सभी लेख हमें १५ मार्च के लगभग प्राप्त हुए। ऐसी दशा में विलम्ब से प्राप्त लेखों में से सभी को इच्छित स्थान पर दे पाना सम्भव नहीं हो सका। कुछ और लेख इस अङ्क में स्थानाभाव से विवशतावश बच रहे हैं उन्हें हम 'सिद्धयोग' में आगे क्रम से प्रकाशित करने का प्रयास करेंगे।

'सिद्धयोग' के प्रकाशनके गत २२ वर्षों का अपना एक इतिहास है, जिसमें सुलभताओं से अधिक दुरूहता और विषमताओं का बाहुल्य ही रहा है। मुद्रण और मुद्रण सामग्री तथा श्रमिकों के श्रम-मूल्यों की प्रतिशत प्रति वर्ष वृद्धि का अधिभार 'सिद्धयोग' का मूल्य बढ़ा-कर भी हल्का नहीं किया जा सका है। फिर भी 'सिद्धयोग' अपने संचालक-संस्थापक, सम्पादक श्री गुरुदेवजी महाराज की कृपा का सम्बल पाकर अपने प्रसार क्षेत्र में आगे बढ़ता रहा है। यह कम प्रसन्नता की बात नहीं है। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण का 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' वाक्य ही तो 'सिद्धयोग' का अपना मूल मन्त्र है और यही मूलमन्त्र विश्व के जन-जन में प्रतिष्ठित करने के लिए यह कर्तव्य-क्षेत्र में अग्रसर है और आगे भी तब तक बना रहेगा जब तक कि योगयोगेश्वर महाप्रभु का वरदहस्त हम सब पर रहेगा।

—सं० सम्पादक

'SIDDHAYOGA' Regd. L. AG. 008 Apr. 1990

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

प्राण और उसकी शक्ति

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिंल्लोक उत्तमे॥
यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत्सुश्रवः॥

जो मनुष्य प्राण की शक्ति का वर्णन श्रद्धा से सुनता है, प्राण के बल को विश्वास से जानता है, प्राण का बल प्राप्त करने में यशस्वी होता है और जिस मनुष्य में प्राण उत्तम रीति से प्रतिष्ठित और स्थिर रहता है; उसका ही सब सत्कार करते हैं, उसकी स्थिति उत्तम लोक में होती है और उसी का यश सर्वत्र फैलता है। प्राणायाम द्वारा जो अपने प्राणों को प्रसन्न और स्वाधीन करता है, उसका यश सब प्रकार से बढ़ता है। इस मन्त्र में 'बलि' शब्द का अर्थ सत्कार पूजा, अर्पण शक्ति प्रदान आदि प्रकार का है। सब अन्य देव प्राण को ही पूजते हैं, इस बात का अनुभव अपने शरीर में भी आ सकता है। नेत्र कर्ण नासिका आदि सब अन्य देव प्राण की पूजा करते हैं, प्राण की उपासना से ही प्राण की शक्ति उनमें प्रकट होती है। इसी प्रकार प्राणायाम की साधना करने वाले योगी का सत्कार अन्य सज्जन करते हैं, और उसके उपदेश से प्राणोपासना का मार्ग जानकर स्वयं बलवान् बन सकते हैं। यही कारण है कि प्राणायाम करने वाले योगी की सर्वत्र प्रशंसा होती है।

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज आगरा-१